









हमारी कहानी






शिक्षित बालिका
शिक्षित समाज
सशक्त बालिका
सशक्त समाज
स्वस्थ बालिका
स्वस्थ समाज

उच्च प्राथमिक स्तर के लिए
हिंदी की पूरक पुस्तक



विद्यया ऽमृतमश्नुते
एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
जून 2015 ज्येष्ठ 1937

पुनर्मुद्रण
जून 2019 ज्येष्ठ 1941
जून 2020 ज्येष्ठ 1942

PD 145T RPS

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2015

₹ 50.00

80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशन प्रभाग में प्रकाशित तथा राज प्रिंटर्स, ए–9, सेक्टर बी–2, ट्रॉनिका सिटी इंडस्ट्रियल एरिया, लोनी, ज़िला गाज़ियाबाद 201 102 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

ISBN 978-93-5007-346-9

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमित के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फ़ोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रचारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशन की पूर्व अनुमित के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फ़ोन : 011-26562708

108ए 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुरु 560 085 फ़ोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फ़ोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पिनहटी
कोलकाता 700 114 फ़ोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फ़ोन : 0361-2676869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *अनूप कुमार राजपूत*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *अरुण चितकारा*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *विपिन दिवान*
संपादक : *रेखा अग्रवाल*
उत्पादन सहायक : *ओम प्रकाश*

आवरण एवं सज्जा-चित्रांकन
श्वेता राव

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् समय-समय पर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ पूरक पाठ्यसामग्री/अतिरिक्त पाठ्यसामग्री का प्रकाशन करती है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 में कहा गया है कि बच्चों की पठन रुचि को विकसित करने के लिए उनके आस-पास पठनसामग्री का विपुल भंडार होना चाहिए। उनके सामने चयन के ऐसे विकल्प मौजूद हों, जो उन्हें स्थायी पाठक बनने में मदद करें। इसे ध्यान में रखकर उच्च प्राथमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए **हमारी कहानी** को तैयार किया गया है। इस पुस्तक में विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन की कहानियों का संचयन किया गया है—कभी उनकी अपनी ज़ुबानी, कभी किसी ने कही उनकी कहानी। आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों में पढ़ने की संस्कृति विकसित करेगी तथा अध्यापकों सहित अन्य पाठकों को आकृष्ट करेगी।

पुस्तक की सामग्री-चयन और समीक्षा के लिए आयोजित कार्यशालाओं में उपस्थित होकर जिन विषय विशेषज्ञों तथा अनुभवी अध्यापकों ने अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा पुस्तक को उपयोगी बनाने में सहयोग किया है, परिषद् उनके प्रति आभार व्यक्त करती है। हम श्री अशोक वाजपेयी, सुप्रसिद्ध लेखक-कवि के भी आभारी हैं जिन्होंने समग्र रूप से समीक्षा कर पुस्तक को बेहतर बनाने में सहायता की है। यह पुस्तक परिषद् के भाषा शिक्षा विभाग के हिंदी संकाय सदस्यों द्वारा किया गया एक सराहनीय प्रयास है।

निश्चय ही, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों का विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। अत: पुस्तक को और उपयोगी बनाने के लिए विद्यार्थियों, अध्यापकों और विशेषज्ञों के सुझावों का स्वागत है।

निदेशक

नयी दिल्ली

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्



मिल-जुल कर स्कूल में जाएँ, साथ पढ़ें और
साथ में खाएँ। रंग-बिरंगी प्यारी दुनिया,
साथ मिलकर इसे सजाएँ।

हमारी कहानी

आत्मकथा यानी अपने जीवन की कथा, आप बीती, अपनी जीवन-कहानी, जिसे हम खुद लिखते हैं— क्योंकि हमारे जीवन के बारे में हमसे बेहतर भला कौन जानता है! किसी के जीवन के बारे में अगर कोई दूसरा लिखता है तो वह उसकी जीवनी होगी, आत्मकथा नहीं। स्वलिखित अथवा स्वयं द्वारा बोलकर लिखाया गया जीवन चरित ही आत्मकथा है, जिसे हम आत्म-जीवनी भी कह सकते हैं।

व्यक्ति ही नहीं, प्रत्येक जीव-जंतु, पेड़-पौधों, पहाड़ों और वस्तुओं का भी अपना एक जीवन होता है। एक-दूसरे पर निर्भर होकर भी एक-दूसरे से अलग सबकी अपनी-अपनी जीवन-यात्रा होती है, जीवन-कहानी होती है। कुछ लोगों की जीवनी दूसरों के द्वारा लिखी जाती है, तो कुछ लोग आत्मकथा लिखते हैं। अपने प्रिय लेखक, कलाकार, खिलाड़ी, राजनेता आदि के जीवन-संघर्ष के बारे में जानने के लिए हम बड़ी उत्सुकता के साथ उनकी आत्मकथाओं की तलाश करते हैं और उन्हें पढ़कर जीवन में कुछ करने, आगे बढ़ने की प्रेरणा पाते हैं।

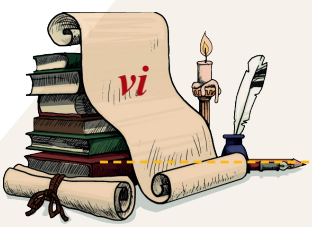
आत्मकथा में जीवन के विविध अनुभव होते हैं—मधुर स्मृतियाँ, सुख-दुख, आशा-निराशा, संघर्ष, सफलता और विफलता की अनेक कहानियाँ होती हैं। इसमें जीवन और अपने समय-समाज का सच होता है, जो हमें एक वृहद संसार से जोड़ता है। इसी सच को औरों तक पहुँचाने की चाह में आत्मकथाएँ लिखी जाती हैं और इसी सच को जानने की चाह में हम आत्मकथाएँ पढ़ते भी हैं। आत्मकथाकार के जीवन-अनुभव से जुड़कर हम दुनिया और देश-समाज को और बेहतर ढंग से समझने की कोशिश करते हैं।

हम सभी के जीवन में—बचपन से लेकर बुढ़ापे तक — अनेक ऐसी बातें-घटनाएँ होती हैं, जिन्हें हम डायरी, संस्मरण या आत्मकथा के रूप में लिखें, तो वह हमारे जीवन की कहानी तो होगी ही, हमारे समय और समाज का आईना भी होगा। लेकिन आत्मकथा लिखने के लिए नि:संकोच भाव से सब कुछ कह देने और सच को स्वीकार करने का नैतिक साहस आवश्यक है। (महात्मा गांधी की आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' इसका एक अच्छा उदाहरण है।)

यह किताब जो इस समय आपके हाथ में है, इसमें आप पढ़ेंगे कुछ आत्मकथाओं-जीवनियों के अंश, कुछ संस्मरण देश-विदेश के उन लोगों के बारे में — जिनमें लेखक, कलाकार, खिलाड़ी, वैज्ञानिक, राजनेता आदि शामिल हैं — जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में कुछ ऐसा काम किया है, जो औरों से हटकर है और दूसरों के लिए प्रेरणाप्रद भी।

इन आत्मकथात्मक रचनाओं में आपको उनका *बचपन* मिलेगा और उनके जीवन का वह संघर्ष भी जिसके कारण आज उनका नाम और काम दुनियाभर में चर्चित है। उनके बारे में पढ़ते हुए हो सकता है आपको भी अपने बचपन की या अब तक के जिये जीवन की कोई ऐसी बात या घटना याद आ जाए, जिससे लगे कि अरे, ऐसी ही कुछ मेरी भी कहानी है ! और जिसे लिखने को आपका मन मचल उठे, तो नि:संकोच उसे फ़ौरन लिख डालना — अपने मन के सीधे, सच्चे, सरल शब्दों में।

जी हाँ, आप हर दिन की अपनी कहानी को डायरी के रूप में लिख सकते हैं। बीते दिनों की यादों को संस्मरण के रूप में लिख सकते हैं। और आप चाहें तो पत्र लिखकर भी अपने किसी दोस्त या प्रिय व्यक्ति को अपनी जीवन-कहानी पढ़ा सकते हैं। अपने प्रिय मित्र या अपने माता-पिता से उनके बचपन या जीवन के बारे में पत्र लिखकर जान सकते हैं या उनके साथ बातचीत करते हुए ऑडियो/वीडियो रिकॉर्डिंग करके उनके बोले हुए शब्दों से ही उनकी आत्मकथा या उनके संस्मरणों की एक किताब तैयार कर सकते हैं। तो चलिए अपने आस-पास के लोगों और अपने आप में उस अभिनव, सुंदर, सच और सृजनात्मकता को महसूस करें और उसे शब्दों में अभिव्यक्ति दें। इसी विश्वास के साथ यह किताब आपके हाथों में है। हमें यह भी आशा है कि आप इस किताब को भी और बेहतर बनाने के सुझाव देने में हिचकिचाएँगे नहीं।



पुस्तक निर्माण समूह

सदस्य-समन्वयक

चंद्रा सदायत — *प्रोफ़ेसर* एवं *अध्यक्ष*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

नरेश कोहली — *सहायक प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

प्रमोद कुमार दुबे — *सहायक प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

संध्या सिंह — *प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

सदस्य

अपूर्वानंद — *प्रोफ़ेसर*, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अशोक वाजपेयी — हिंदी लेखक, सी-18, अनुपम अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली

अक्षय कुमार — *हिंदी शिक्षक*, सर्वोदय बाल विद्यालय, फतेहपुर बेरी, दिल्ली

उषा शर्मा — *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, प्राथमिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

प्रेमपाल शर्मा — *हिंदी लेखक*, 96, कला विहार, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली

माधवी कुमार — *पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

राकेश कुमार — *उप-प्राचार्य*, बी.आर.एस.बी.वी., भोलानाथ नगर, दिल्ली

रामजन्म शर्मा — *पूर्व प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

लता पाण्डेय — *प्रोफ़ेसर*, प्राथमिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

विमल थोराट — *प्रोफ़ेसर*, इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू), नयी दिल्ली

श्याम सिंह सुशील — *हिंदी लेखक*, ए-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली

संजय कुमार सुमन — *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

संतोष कुमार पाण्डेय — *हिंदी शिक्षक*, केंद्रीय विद्यालय, जे.एन.यू., नयी दिल्ली

आभार

परिषद् रचनाकारों, उनके परिजनों, संस्थानों/प्रकाशकों के प्रति आभारी है, जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। रामानुजन और चार्ली चैपलिन की सामग्री के लिए परिषद् 'एकलव्य' की आभारी है।

पुस्तक निर्माण संबंधी कार्यों में तकनीकी सहयोग के लिए परिषद् *डी.टी.पी. ऑपरेटर* नरगिस इस्लाम व सुरेन्द्र कुमार, *कंप्यूटर टाइपिस्ट* चंद्रकांत, *कॉपी एडीटर* श्याम सिंह सुशील और *एडिटोरियल असिस्टेंट* ममता गौड़ की आभारी है।

विषय-क्रम

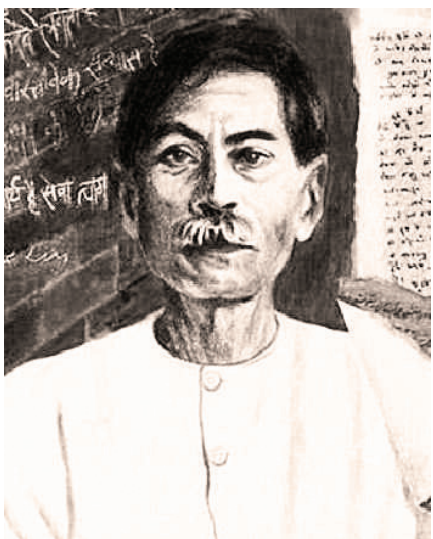
आमुख			*iii*
1.	प्रेमचंद	*नागार्जुन*	**1-10**
2.	मेरी कहानी मेरी ज़ुबानी	*दादा साहब फ़ाल्के*	**11-20**
3.	शहीद चंद्रशेखर आज़ाद	*मन्मथनाथ गुप्त*	**21-28**
4.	यही मेरी पढ़ाई थी और खेल भी	*रामानुजन*	**29-32**
5.	गोल	*मेजर ध्यानचंद*	**33-35**
6.	स्टेज पर वह माँ की आखिरी रात थी	*चार्ली चैपलिन*	**36-41**
7.	स्कूल के दिन	*कौसल्या बैसंत्री*	**42-46**
8.	अमृता शेरगिल	*दिलीप चिंचालकर*	**47-52**
9.	झूठे किस्से गढ़ने में मुझे महारत हासिल थी...	*चार्ल्स डार्विन*	**53-56**
	परिचय		**57-58**



पढ़ूँगी, बढ़ूँगी, सपनों के आसमान में
ऊँची उड़ूँगी, बस मौका चाहिए मुझे,
अपनी राह खुद चुनूँगी

प्रेमचंद

नागार्जुन



गोरी सूरत, घनी काली भौंहें, छोटी-छोटी आँखें, नुकीली नाक, बड़ी-बड़ी और गुछी हुई विरल मूँछों वाला यह मुसकराता चेहरा किसका है? यह चेहरा प्रेमचंद का है। लगता है, अभी हँसने वाले हैं। लगता है, अभी ज़ोरों के कह-कहे लगाएँगे।

वाराणसी से छह किलोमीटर दूर लमही में शनिवार, 31 जुलाई, सन् 1880 को धनपतराय का जन्म हुआ। माँ-बाप ने नाम रखा था धनपत। चाचा लाड़-प्यार में कहा करते थे नवाब।

पिता का नाम था अजायब राय। डाकखाने में किरानी थे, इसी से लोग उन्हें मुंशी अजायब लाल कहा करते। माता का नाम था — आनंदी। अक्सर बीमार रहतीं। पिता को दवा-दारू से फ़ुरसत नहीं मिलती थी।

> **“बचपन वह उम्र है, जब इनसान को मुहब्बत की सबसे ज़्यादा ज़रूरत पड़ती है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाए, तो ज़िंदगी-भर के लिए उनकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। मेरी माँ के देहांत के बाद मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी ज़िंदगी है।”**

धनपत सात वर्ष का ही था कि माँ चल बसीं। माँ के बिछोह ने धनपत के बचपन का सारा रस सोख लिया। कुछ वर्ष बाद मुंशी अजायब लाल ने दूसरी शादी की। अभाव तो पहले से था ही, विमाता का निष्ठुर व्यवहार भी उसमें आ मिला। नयी माँ बात-बात पर डाँटती। उसे धनपत में बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ दीखतीं।

कदाचित प्रेमचंद अपने उपन्यास ‘कर्मभूमि’ के पात्र ‘चंद्रकांत’ के द्वारा खुद

अपनी ही व्यथा सुना रहे हैं... "बचपन वह उम्र है, जब इनसान को मुहब्बत की सबसे ज़्यादा ज़रूरत पड़ती है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाए, तो ज़िंदगी-भर के लिए उनकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। मेरी माँ के देहांत के बाद मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी ज़िंदगी है।"

और, यही कारण था कि बालक धनपत घर-आँगन से भागकर बाहर खुले मैदान में, अमराई में, खेतों की तरफ़ निकल जाता था। साथियों के साथ गुल्ली-डंडा खेलता था। पेड़ों पर चढ़ता था। आम की कैरियाँ चुनता था। मटर की फलियाँ तोड़ता था ... हवाई किले बनाता था।

गरीबी, घुटन और रूखेपन से त्राण पाने के लिए बालक धनपत ने इस तरह एक सहज रास्ता निकाल लिया था। रोने-खीझने वाली परिस्थितियों पर कहकहे हावी होने लगे। *प्रेमचंद* ने बचपन से ही मुसीबतों पर हँसना सीखा था।

पिता का तबादला गोरखपुर हुआ। बच्चे भी साथ गए। गाँव के मदरसे से शहर का स्कूल अच्छा था। धनपत की तबीयत पढ़ने में लग गई। गुल्ली-डंडे का खेल पीछे छूट गया। शहरी नज़ारे आगे सरक आए, किताबें चाटने का चस्का इसी उम्र में लगा। हज़ारों कहानियाँ और सैकड़ों छोटे-मोटे उपन्यास धनपत ने इसी उम्र में पढ़ डाले। यह साहित्य उर्दू का था।

हमारा कहानीकार शायद पैदा हो चुका था। रात को अकेले में ढिबरी की मद्धिम रोशनी में उसने गल्प रचना शुरू कर दी थी। बीसियों पन्ने यों ही लिख जाना और उन्हें फाड़ डालना... यह सब कितना अच्छा लगता होगा तब धनपत को।



उन्हीं दिनों पिता ने शादी करवा दी। निश्चय ही उसमें सौतेली माँ की भी राय रही होगी। जो लड़की धनपत के लिए चुनी गई थी, वह धनपत को कभी पसंद नहीं आई। पुत्र के पाँवों में 'अष्टधातु' की बेड़ियाँ डालकर



मुंशी अजायब लाल ने हमेशा के लिए आँखें मूँद लीं। परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा।



हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी में मुंशी प्रेमचंद की लिखावट का नमूना

अपनी इन दिनों की दशा का वर्णन प्रेमचंद ने 'जीवन-सार' में किया है, "पाँव में जूते न थे, देह पर साबुत कपड़े न थे। महँगाई अलग थी। रुपए में बीस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं एक लड़के को पढ़ाने बाँस फ़ाटक जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था, पढ़ाकर छह बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में आठ किलोमीटर पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच पाता। प्रात:काल आठ बजे फिर घर से चलना पड़ता था। कभी वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे रहता।"

गरीबी... पिता की मृत्यु... खर्च में बढ़ती... असामान्य परिश्रम... कुप्पी के सामने बैठकर रात की पढ़ाई...

जैसे-तैसे द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक पास किया। गणित से बेहद घबराते थे। इंटर-मीडिएट में दो बार फ़ेल हुए। निराश होकर परीक्षा का विचार ही छोड़ दिया। आगे चलकर दस-बारह वर्ष बाद, जब गणित के विकल्प में दूसरा विषय लेना संभव हो गया तभी धनपत राय ने यह परीक्षा पास की।

हमारे भावी उपन्यास-सम्राट के पास एक फूटी कौड़ी न थी। महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था। बड़ी विवशता से पुरानी पुस्तकों को लेकर एक पुस्तक-विक्रेता के पास पहुँचे। वहीं एक सौम्य पुरुष से,

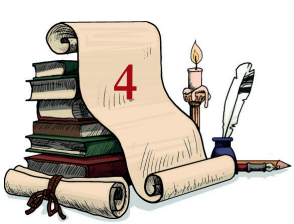
जो एक छोटे-से स्कूल के प्रधानाध्यापक थे, उनका परिचय हुआ। उन्होंने इनकी कुशाग्रता और लगन से प्रभावित होकर अपने यहाँ सहायक अध्यापक के रूप में



प्रेमचंद की 125वीं वर्षगाँठ पर 2005 में सहमत द्वारा ज़ारी पोस्टकार्ड, क्रेडिट्स, क्लॉक वाइज़ – शमशाद, वीर मुंशी, हेम ज्योतिका, जहाँगीर जानी

नियुक्त करने का आश्वासन दिया और दूसरे दिन इन्हें दस रुपये मासिक वेतन पर नियुक्त किया।

1919 में बी.ए. भी कर लिया। विषय लिए थे – अंग्रेज़ी, फ़ारसी, इतिहास। वे एम.ए. भी करना चाहते थे, कानून भी पढ़ना



चाहते थे। लेकिन परीक्षाओं की तरफ़ से उदासीन हो गए थे। जब उमंग थी तब गणित ने बाधा पहुँचाई, अब जब वह बाधा दूर हुई, तो जीवन का लक्ष्य ही बदल चुका था।



प्रेमचंद के सम्मान में भारत सरकार द्वारा जारी डाक टिकट

इनकी पहली शादी चाची (विमाता) और चाची के पिता की राय से रचाई गई थी। लड़की प्रेमचंद से उम्र में बड़ी थी, ढीठ और नासमझ भी थी। पति से भी लड़ती थी और पति की सौतेली माँ से भी।

दस-बारह वर्ष तक, यानी 1905 तक तो धनपतराय ने पहली बीवी के साथ जैसे-तैसे निभाया, किंतु जब उसके साथ एक दिन भी निभाना मुश्किल हो गया तो, शिवरानी देवी नाम की एक बालविधवा से शादी करके धनपतराय ने समाज के सामने भारी साहस और आत्मबल का परिचय दिया।

धनपतराय पढ़ाकू तो थे ही, कलम भी चलने लगी। मैट्रिक पास करने से पहले ही उनको लिखने का चस्का लग गया था। पढ़ाई और ट्यूशन आदि से जो वक्त बचता, वह सारा-का-सारा किस्से-कहानियाँ पढ़ने में लगाते। किस्से-कहानियों का जो भी असर दिमाग पर पड़ता, उसे अपनी सहज कल्पनाओं में घोल-घोल कर वे नयी कथावस्तु तैयार करने लगे और वह कागज़ पर उतरने भी लगी।

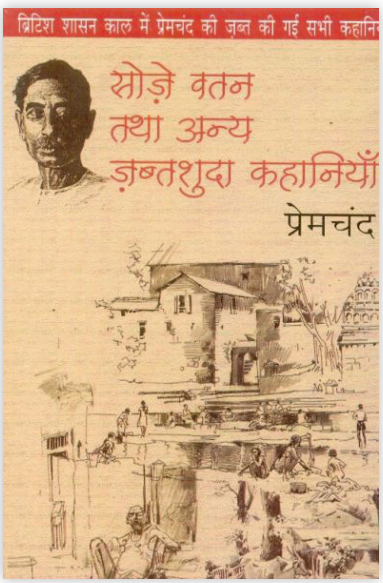
1901-2 में उनके एक-दो उपन्यास निकले। कहानियाँ 1907 में लिखनी शुरू कीं। अंग्रेज़ी में रवींद्रनाथ की कई गल्प रचनाएँ पढ़ी थीं, प्रेमचंद ने उनके उर्दू रूपांतर पत्रिकाओं में छपवाए। पहली कहानी थी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' जो 1907 में कानपुर के उर्दू मासिक 'ज़माना' में प्रकाशित हुई। 'ज़माना' में धनपतराय की अन्य रचनाओं का प्रकाशन 1903-4 से ही शुरू हो गया था। 1904 के अंत तक 'नवाब_राय' 'ज़माना' के स्थायी और विशिष्ट लेखक हो चुके थे।

1905 तक आते-आते प्रेमचंद तिलिस्मी, ऐयारी और काल्पनिक कहानियों के चंगुल से छूटकर राष्ट्रीय और क्रांतिकारी भावनाओं की दुनिया में प्रवेश कर चुके थे।'ज़माना' उस समय की राष्ट्रीय पत्रिका थी। सभी को देश की गुलामी खटकती थी, विदेशी शासन की सुनहरी ज़ंजीरों के गुण



गाने वाले गद्दार देश-द्रोहियों के खिलाफ़ सभी के अंदर नफ़रत खौलती थी। शाम को 'ज़माना' के दफ़्तर में घंटों देशभक्तों का अड्डा जमता। प्रेमचंद को राष्ट्रीयता की दीक्षा इसी अड्डे पर मिली थी। एक साधारण कथाकार वहीं 'युगद्रष्टा साहित्यकार' के रूप में ढलने लगा। बड़ी-से-बड़ी बातों को सीधे और संक्षेप में कहना या लिखना प्रेमचंद ने यहीं सीखा।

नयी पत्नी के साथ रहने लगे तब से लिखाई का सिलसिला जम गया। 1905 से 1920 के दरम्यान प्रेमचंद ने बहुत कुछ लिखा ... दसियों छोटे-बड़े उपन्यास, सैकड़ों कहानियाँ, पत्र-पत्रिकाओं में निबंध और आलोचनाएँ भी कम नहीं लिखीं। मास्टरी के दिनों में भी लिखते रहे थे। स्कूलों के सब-डिप्टी इंस्पेक्टर थे, अक्सर दौरे पर रहना होता था, फिर भी रोज़ कुछ-न-कुछ लिख लेते थे।



ब्रिटिश शासन के दौरान प्रतिबंधित प्रेमचंद की कहानियों के संग्रह का आवरण पृष्ठ

1920 ई. के बाद ज़्यादातर वे हिंदी में ही लिखने लगे। 'माधुरी' (लखनऊ) के संपादक होने पर उनकी प्रतिभा और योग्यता की झलक हिंदी संसार को मिलने लगी। फिर भी 'ज़माना' को प्रेमचंद की मौलिक उर्दू-रचनाएँ लगातार मिलती रहीं।

1930 में प्रेमचंद की कहानियों का एक और संकलन ज़ब्त हुआ—'समर यात्रा'। प्रकाशित होते ही अंग्रेज़ी सरकार ने इस पुस्तक को आपत्तिजनक घोषित कर दिया। सरस्वती प्रेस से पुस्तक की सारी प्रतियाँ उठा ली गईं।

अब वे अपना निज़ी पत्र निकालना चाहते थे। पत्र-पत्रिकाएँ संपादित करने की दीक्षा दरअसल प्रेमचंद को कानपुर में ही मिल चुकी थी। सन् 1905 से ही 'ज़माना' और 'आज़ाद' के कॉलम उनकी कलम के

लिए 'खेल का मैदान' बन चुके थे। सन् 1921-22 में काशी से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'मर्यादा' का संपादन बड़ी कुशलता से किया था। अब वे मँजे हुए पत्रकार थे। फलत: सन् 1930 में 'हंस' निकला और 1932 में 'जागरण'।

हद दर्ज़े की ईमानदारी और अपनी ड्यूटी अच्छी तरह निभाने की मुस्तैदी, खुद तकलीफ़ झेलकर दूसरों को सुख पहुँचाने की लगन, सौ-सौ बंधनों में जकड़ी हुई भारत माता की स्वाधीनता के लिए आतुरता, बाहरी और भीतरी बुराइयों की तरफ़ से लोगों को आगाह रखने का संकल्प, हर तरह के शोषण का विरोध ... अपनी इन खूबियों से प्रेमचंद खूब लोकप्रिय हो उठे।

प्रेमचंद का स्वभाव बहुत ही विनम्र था, किंतु उनमें स्वाभिमान कूट-कूटकर भरा था। दिखावा उन्हें बिलकुल पसंद नहीं था ... कुरता और धोती, 1920 के बाद गांधी टोपी अपना ली थी।

सरकारी नौकरी और स्वाभिमान में संघर्ष चलता ही रहता था। आखिर में जीत हुई स्वाभिमान की। 1920 में सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया और गाँव जाकर जम गए। कलम चलाकर 40-50 रुपये की फुटकर मासिक आमदनी होने लगी। बड़े संतोष और धीरज से वे दिन प्रेमचंद ने गुज़ारे।

1921 में काशी के नामी देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने 150 रुपये मासिक पर प्रेमचंद को 'मर्यादा' का संपादक बना लिया। पहले संपादक बाबू संपूर्णानंद असहयोग आंदोलन में गिरफ़्तार होकर जेल पहुँच गए थे। 'मर्यादा' को सँभालने के लिए किसी सुयोग्य संपादक की आवश्यकता थी।

1922 में संपूर्णानंद जी जेल से छूटे, तो उन्हें 'मर्यादा' वाला काम वापस मिला। लेकिन बाबू शिवप्रसाद गुप्त प्रेमचंद को छोड़ना नहीं चाहते थे। काशी विद्यापीठ में उन्हें स्कूल विभाग का हेडमास्टर नियुक्त कर दिया।

1930 में प्रेमचंद स्वयं राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में कूद पड़ना चाहते थे। सत्याग्रहियों की कतार में शामिल होकर, पुलिस की लाठियों के मुकाबले डटना चाहते थे। किंतु जेल जाने का उनका मनोरथ अधूरा ही रह गया।

पत्नी ने सोचा... कमज़ोर हैं, अक्सर बीमार रहते हैं। इनको जेल नहीं जाने दूँगी। सो वे आगे बढ़ीं। सत्याग्रही







प्रेमचंद के गोरखपुर आवास (1916-1921) की स्मृति-पट्टिका

महिलाओं की कतार में शामिल हुईं। गिरफ़्तार होकर अपने जत्थे के साथ जेल पहुँच गईं।

प्रेमचंद मन मसोस कर रह गए। मजबूरी थी, पर तसल्ली थी। "हर परिवार से एक आदमी को जेल जाना ही चाहिए ..." उन दिनों यह भावना ज़ोर पकड़ चुकी थी।

यह दूसरी बात है कि वे कभी गिरफ़्तार नहीं हुए, कभी जेल न गए, मगर प्रेमचंद स्वाधीनता -संग्राम के ऐसे सेनापति थे, जिनकी वाणी ने लाखों सैनिकों के हृदय में जोश भर दिया था। स्वाधीनता के लिए जनता की लड़ाई का समर्थन करते समय प्रेमचंद यह कभी नहीं भूले कि आज़ादी केवल एक व्यक्ति के जीवन को सुखमय नहीं बनाएगी, मुट्ठीभर आदमियों के लिए ही ऐशो-आराम नहीं लाएगी... वह 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' होगी।

1923 में 'सरस्वती प्रेस' चालू हुआ। प्रेमचंद की आज़ाद तबीयत को नौकरी भाती नहीं थी। स्वाधीन रहकर लिखने-पढ़ने का धंधा करना चाहते थे। प्रेस खोलते वक्त उनके दिमाग में यही एक बात थी कि अपनी किताबें आप ही छापते रहेंगे। मगर प्रेमचंद अपने प्रेस को वर्षों तक नहीं चला सके,

किताबों का प्रकाशन करके कागज़ और छपाई-बँधाई का खर्चा निकालना मुश्किल था।

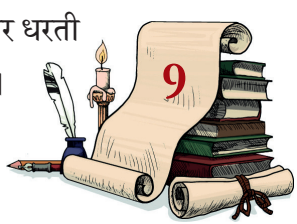
1930 तक प्रेस की हालत खराब रही। फिर भी वह प्रेमचंद का लहू पी-पीकर किसी तरह चलता रहा। इसमें जो कुछ कसर थी, उसे 'हंस' और 'जागरण' ने पूरा कर दिया। घाटा, घाटा, घाटा और घाटा! कर्ज़, कर्ज़ और कर्ज़!

बार-बार निश्चय करते थे कि अब दोबारा नौकरी नहीं करेंगे, अपनी किताबों से गुज़ारे के लायक रकम निकल ही आएगी... बार-बार जमकर प्रेस में बैठते थे, बार-बार पुराना कर्ज़ पटाकर नए सिरे से मशीन के पुर्ज़ों में तेल डालते थे... काम बढ़ता था, परेशानियाँ बढ़ती थीं, बुढ़ापा भी उसी रफ़्तार से आगे बढ़ता जाता था।

पढ़ने-लिखने का सारा काम रात को करते थे। तंदुरुस्ती बीच-बीच में टूट जाती थी, दवा-दारू के लिए शिवरानी रुपये देतीं, तो वे उस रकम को भी प्रेस में खर्च कर डालते, फिर वैद्यों और हकीमों से सस्ती दवाएँ लेते रहते। आराम बिलकुल नहीं करते थे। पूरी नींद सोते नहीं थे। खाना भी मामूली किस्म का खाते।

1936 के बाद दशा कुछ बदली ज़रूर, मगर प्रेमचंद का परिश्रम और भी बढ़ गया। उनका जीवन ऐसा दीप था जिसकी लौ मद्धिम नहीं, तेज़ प्रकाश देने को मज़बूर थी। पर उस दीप में कभी पूरा-पूरा तेल नहीं डाला गया। लौ हमेशा बत्ती के रेशे को ही जलाती रही।

उनकी बेचैनी इसीलिए थी कि वे चाहते थे कि जीवन-दीप का प्रकाश दूर-दूर तक फ़ैले, वक्त पर फ़ैले, अच्छी तरह फ़ैले। अपनी सारी किताबें, अपना सारा साहित्य, अपने प्रेस में ही छपवाकर समूचे देश में फ़ैला देना चाहते थे। किसानों, मज़दूरों, युवकों, विद्यार्थियों, स्त्रियों और अछूतों की दर्दनाक ज़िंदगी को आधार बनाकर जो कुछ भी लिखें, सभी कुछ छापकर जनता को सजग-सचेत बना देने का संकल्प प्रेमचंद के अंदर हिलोरें ले रहा था। अधिक-से-अधिक लिखते जाना, अधिक-से-अधिक छापते जाना, अधिक-से-अधिक लोगों को जागरूक बनाते जाना ... शोषण, गुलामी, ढोंग, दंभ, स्वार्थ, रूढ़ि, अन्याय, अत्याचार इन सबकी जड़ें खोद डालना और धरती को नयी मानवता के लायक बनाना... यही प्रेमचंद का उद्देश्य था।



तभी तो हानि-लाभ की भावनाओं से निर्लिप्त रहकर प्रेमचंद अंत तक लिखते रहे। नींद नहीं आती थी। बीमारी बढ़ गई थी। प्रेस जाना बंद था। फिर भी, आप घर वालों की नज़रें बचाकर उठ जाते और कलम तेज़ी से चल पड़ती... इतनी तेज़ी से कि जीवन समाप्त होने से पहले ही सब कुछ लिख देना चाहते थे।

"मैं मज़दूर हूँ, जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है..." ये शब्द उनके होंठों के केवल आभूषण ही न थे बल्कि सच थे।

फ़िल्मों के द्वारा जनता तक अपने संदेशों को प्रभावशाली ढंग से पहुँचाने और साथ ही अभावों से मुक्ति पाने के लिए वे मुंबई गए। किंतु धनपत को धनपतियों का सहवास और मुंबई का प्रवास रास नहीं आया, वह उनकी अभिलाषाओं की पूर्ति नहीं कर पाया।

फिर वही प्रेस। फिर वही प्रकाशन, फिर वही घिसाई। रातों-रात जागकर प्रेमचंद ने 'गोदान' पूरा किया।

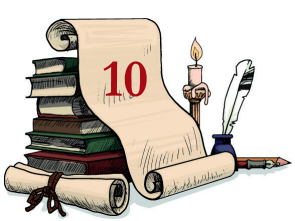
'गोदान' छपकर निकल आया था कि उनकी लेखनी 'मंगलसूत्र' पर तेज़ी से चल रही थी।

मरते-मरते प्रेमचंद इस उपन्यास को पूरा करना चाहते थे। चार ही अध्याय लिख पाए थे। खाना नहीं हज़म होता था। खून की कै करने लगे थे। पेट में पानी भर गया था। दूध, बार्ली, फलों का रस तक नहीं पचा पाते थे। पर इतने पर भी काम करने की ललक पीछा नहीं छोड़ती थी, लिखने की अभिलाषा शांत नहीं हो पाती थी, देश को अपने जीवन, अनुभव और अपने विचारों की अंतिम बूँद तक दे जाने की इच्छा चैन नहीं लेने देती थी।

> **"मैं मज़दूर हूँ, जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है ..."**

8 अक्तूबर 1936, रात का पिछला पहर। प्रेमचंद ने हमेशा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं। अभी साठ के भी नहीं हुए थे। 56 वर्ष की आयु क्या कोई लंबी आयु थी?

मैक्सिम गोर्की और शरत्चंद्र... का देहावसान भी उसी वर्ष हुआ।





मेरी कहानी मेरी ज़ुबानी

दादा साहब फ़ाल्के



धुंदिराज गोविंद फ़ाल्के

1910 में बंबई (अब मुंबई) के अमरीका-इंडिया पिक्चर पैलेस में मैंने 'द लाइफ़ ऑफ़ क्राइस्ट' फ़िल्म देखी। इससे पहले, कई बार अपने परिवार या मित्रों के साथ फ़िल्में देखी होंगी, लेकिन क्रिसमस के उस शनिवार को, मेरे जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आरंभ हुआ। उस दिन भारत में, उस उद्योग की नींव रखी गई, जिसका वर्तमान छोटे-बड़े बेशुमार उद्योगों में पाँचवाँ स्थान है। ईसा मसीह के जीवन के महान कार्यों को देखकर, अनजाने में तालियाँ बजाते हुए, मैं कुछ ऐसा अनुभव कर रहा था, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस समय मेरे चक्षु के सामने ईसा मसीह का जीवन-चरित्र चल रहा था, मन चक्षु भगवान श्रीकृष्ण और भगवान राम तथा गोकुल और अयोध्या के चित्र देख रहे थे। एक विचित्र सम्मोहन ने मुझे जकड़ लिया। फ़िल्म समाप्त होते ही मैंने दूसरा टिकट खरीदा और फिर से फ़िल्म देखी। इस बार मैं परदे पर अपनी कल्पनाओं को साकार होते देख रहा था। क्या यह वास्तव में संभव है? क्या हम, भारत-पुत्र कभी परदे पर भारतीय प्रतिमाएँ देख पाएँगे? सारी रात इसी मानसिक दुविधा में गुज़र गई। इसके बाद लगातार दो महीने तक यह हाल रहा कि जब तक मैं बंबई के

सभी सिनेमाघरों में चलने वाली हर फ़िल्म न देख लेता, चैन नहीं आता। इस काल में देखी हुई हर फ़िल्म के विश्लेषण और उन्हें यहाँ बनाने की संभावनाओं पर सोच-विचार में लगा रहता। इस व्यवसाय की उपयोगिता और उद्योग के महत्त्व के बारे में कोई शंका नहीं थी। लेकिन यह सब कुछ कैसे संभव हो पाएगा? भाग्यवश मैं इसे कोई समस्या नहीं मानता था। मुझे विश्वास था कि परमात्मा की दया से मुझे निश्चय ही सफलता मिलेगी। फ़िल्म निर्माण के लिए आवश्यक मूल शिल्पकलाओं—ड्राइंग, पेंटिंग, आर्किटेक्चर, फोटोग्राफ़ी, थियेटर और मैजिक की भी जानकारी मुझे थी। इन कलाओं में प्रवीणता के लिए मैं स्वर्ण और रजत पदक भी जीत चुका था। फ़िल्म निर्माण में सफलता की मेरी आशा को इन कलाओं में मूलभूत प्रशिक्षण ही बलवती बना रहा था। लेकिन यह कैसे पूरी होगी? कैसे?

मुझ में चाहे जितना आत्मविश्वास और उत्साह हो, कोई भी व्यक्ति मुझे तब तक पूँजी नहीं दे सकता जब तक उसे आकर्षित करने के लिए, उसे प्रत्यक्ष दिखाने के लिए कुछ हो। इसलिए मेरे पास जो कुछ भी था, सब बेच-बाचकर इस काम में जुट गया।

मित्रों ने मुझे पागल करार दिया। एक ने तो मुझे थाना के पागलखाने पहुँचाने तक की योजना बना ली थी। विलायत से कैटलाग, किताबें, कुछ ज़रूरी चीज़ें आदि मँगवा कर लगातार प्रयोग करने में छह महीने बीत गए। इस काल में मैं शायद ही किसी दिन तीन घंटों से ज़्यादा सो पाया होऊँगा।

रोज़ शाम को चार-पाँच घंटे सिनेमा देखना और शेष समय में मानसिक विचार और प्रयोग, विशेषत: परिवार के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी के साथ-साथ रिश्तेदारों द्वारा व्यंग्य-तिरस्कार, असफलता का भय आदि के कारण मेरी दोनों आँखें सूज गईं थीं। मैं बिलकुल अंधा हो गया। लेकिन डॉ. प्रभाकर के सामयिक उपचार के कारण मेरा दृश्य-जगत मुझे वापिस मिल गया। तीन-चार चश्मों की सहायता से मैं फिर अपने काम में जुट गया। वाकई, आशा बड़ी चमत्कारी होती है।

यह स्वदेशी आंदोलन का काल था। स्वदेशी पर भाषणों की इफ़रात थी, परिणामत: मैं अपनी अच्छी-भली सरकारी नौकरी छोड़ कर स्वतंत्र औद्योगिक व्यवसाय प्रारंभ करने को प्रेरित हुआ। इसी अनुकूल काल में मैंने अपने मित्रों और स्वदेशी आंदोलन के नेताओं को अपने कल्पना जगत के सिनेमा की



> यह स्वदेशी आंदोलन का काल था। स्वदेशी पर भाषणों की इफ़रात थी, परिणामत: मैं अपनी अच्छी-भली सरकारी नौकरी छोड़ कर स्वतंत्र औद्योगिक व्यवसाय प्रारंभ करने को प्रेरित हुआ।



स्वदेशी आंदोलन के दौरान भारतीय द्वारा विदेशी सामान को जलाने का दृश्य

स्वप्निल आशाएँ दर्शाईं। जो लोग 10-20 साल से जानते थे, स्नेह करते थे, उन्हें भी मेरी बात कल्पना जैसी लगी और मैं उनकी हँसी का पात्र बन गया।

अंतत: मेरे एक मित्र ने इस योजना पर ध्यान देना स्वीकार किया। मेरे पाँच-दस सालों के व्यावसायिक संबंध थे और जिन्हें मेरे व्यवसाय के प्रति प्रेम, लगन के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी थी। उन्हें मैंने अपनी योजना समझाई। वे राज़ी हुए। मेरे मित्र 20-25 हज़ार रुपये का इंतज़ाम कर सकते थे। और इस बात का अंदाज़ा कोई भी लगा सकता है कि यूरोपीय-अमरीकी कंपनियों की पूँजी की तुलना में 20-25 हज़ार रुपये की रकम कम थी। मुझे आशा थी कि दो-चार फ़िल्में रजतपट पर आने के बाद कारखाना अपनी आय से धीरे-धीरे अपना विकास करेगा या ज़रूरत पड़ने पर मेरे मित्र अधिक पूँजी की व्यवस्था करेंगे।

मुझे इस बात का अभिमान है कि मैं कोई भी कदम जल्दबाज़ी में नहीं उठाता। इस बार भी कल्पनाओं और विदेशों में प्रत्यक्ष कृति का अंतर समझने के लिए एक बार विलायत गए बिना बड़ी रकम लगाना मैंने उचित नहीं समझा। जाने-आने और ज़रूरी सामान ख़रीदने के लिए बहुत ही कम राशि की ज़रूरत थी। मैंने खुशी से एक ऐसा 'मारवाड़ी एग्रीमेंट' लिख दिया जिसके अनुसार यदि

भगवान ने मुझे सफलता दी तो साहूकार का कल्याण हो जाए। और इस तरह एक इतनी-सी राशि पर (जिसमें एक अच्छा-सा हेअर कटिंग सैलून या क्षुधा शांति भुवन खोला जा सकता) केवल व्यवसाय-प्रेम के लिए और हिंदुस्तान में सिनेमा कला की स्थापना करके रहूँगा, इस आत्मविश्वास के साथ इस विशाल व्यवसाय की नींव रखी।

विलायत के लिए एक फ़रवरी, 1912 को बंबई से रवाना हुआ। विलायत की यह मेरी दूसरी यात्रा थी। वहाँ पहुँचने पर मेरी आशाएँ और बलवती हुईं। मेरी कल्पनाएँ और फ़िल्म निर्माण का वास्तविक तंत्र बिलकुल एक-सा था। कुछ यंत्र आदि खरीदा। बड़ी मुश्किल से एक प्रसिद्ध कारखाने में फ़िल्म निर्माण का कार्य देखा और कुछ काम स्वयं भी करके 10-12 दिनों में ही लौट आया।

मातृभूमि लौटने पर एक-दो महीने में ही अपनी पत्नी और बच्चों की सहायता से सौ-दो सौ फुट लंबाई का चित्रपट तैयार किया ताकि मेरे मित्र को संतोष हो और भविष्य के प्रति उम्मीद बँधे। अभिनेताओं को रखकर एकाध नाटक तैयार करने के लिए मुझे रकम की दरकार थी। मेरा बनाया हुआ चित्र परदे पर देख और सफलता का पूरा विश्वास होने के बाद साहूकार ने उचित संपत्ति गिरवी रखकर आवश्यक रकम दी। विज्ञापन देकर नौकर और शिष्य एकत्रित किए और उन्हें तैयार कर छह महीने के अंदर ही 'राजा हरिश्चंद्र' चित्रपट परदे पर लाया। इस चित्रपट की एक ही प्रति पर आश्चर्यजनक आय हुई। इस चित्रपट की दर्जन-भर प्रतियों की माँग थी। लेकिन एक ही प्रति की यह आय इतनी अधिक थी कि कारखाने के काम को आगे बढ़ाया जा सकता था। बरसात में चार महीने काम बंद रखने के बाद तीन अक्तूबर



'कालिया मर्दन' (1919) फ़िल्म का एक दृश्य



'राजा हरिश्चंद्र' (1913) फ़िल्म का एक अन्य दृश्य

1913 को कारखाना बंबई से नासिक ले गया। अनेक दृष्टि से व्यवसाय के लिए यही स्थान उपयुक्त होने के कारण वहीं स्थायी होकर 'मोहिनी भस्मासुर' तैयार किया। इस चित्रपट ने भी प्रथम फ़िल्म जैसी ही आय दी। उत्साहित होकर तीसरा चित्रपट 'सावित्री सत्यवान' दुनिया के सामने लाया। इसने पिछले दोनों चित्रपटों के यश और आय में वृद्धि की। जैसे-जैसे आय जमा होती गई, कारखाने में लगता गया।

मेरे काम की ख्याति विदेशों तक पहुँच चुकी थी और वहाँ की एक कंपनी ने हर नाटक की 20-22 प्रतियों की माँग की। हिंदुस्तान में सेल एजेंसी लेने के लिए लोग तैयार हो गए। हिंदुस्तान के 500-700 थिएटरों को मेरे चित्रपट चाहिए थे। अब तक सब काम हाथों से चलता था और बहुत ही धीमी गति से होता था। बिजली के यंत्र तथा अन्य उपकरणों पर 25-30 हज़ार रुपये और ख़र्च कर एक छोटा-सा स्टूडियो स्थापित करने से धीरे-धीरे व्यवसाय ठीक रास्ते पर बढ़ेगा। तैयार होने वाले लोगों के लिए यह



'लंका दहन' (1917) फिल्म का एक दृश्य

'व्यवसाय' की दृष्टि से लाभप्रद होने के लिए उपरोक्त रकम (25-30 हज़ार रुपये) काफ़ी है, यह विश्वास अपने मित्र को दिलाने के बाद नए यंत्र लाने और विदेश में अपने व्यवसाय की भावी उन्नति की स्थापना करने के उद्देश्य से 'मोहिनी', 'सावित्री' आदि चित्रपट साथ में लेकर मैं विलायत गया।

कारखाने में नियुक्त कर सवा दो साल तक शिष्यों को विभिन्न शाखाओं में तरह-तरह से प्रशिक्षित किया ताकि उनके तैयार चित्रपट की माँग इंग्लैंड-अमरीका में हो। फ़िल्म की सिर्फ़ एक प्रति से इतनी आय हो कि कोई भी ललचा जाए, जिन्हें सिनेमा शब्द की स्पेलिंग भी पता नहीं, ऐसे बिलकुल नए लोगों द्वारा हाथ से चलने वाले यंत्र बिना स्टूडियो के इतनी कम लागत में फ़िल्म बनाई गई। फ़िल्म ने विलायत में पूँजी वाले और प्रशिक्षित लोगों को चकित कर दिया। वहाँ के विशेषज्ञ फ़िल्म पत्रिकाओं ने उसे अद्‌भुत करार दिया। इससे अधिक मेरे कारखाने के कर्मचारियों-भारतपुत्रों को और क्या चाहिए।

किंतु, आह! मेरी तीसरी यात्रा ऐन विश्वयुद्ध के शुरू होते ही हुई। युद्ध का परिणाम इंग्लैंड के भारत में दलालों, कमीशन एजेंटों पर बहुत

बुरा पड़ा। उन दिनों मैं इंग्लैंड में था। वहाँ सड़कों पर जगह-जगह पोस्टर लगे थे। 'बिजनेस एजेंट और प्रोफेशनल' और भारत में लोग अपनी ज़मीन-जायदाद छोड़कर बंबई से अपने जन्म स्थानों की ओर लौट रहे थे। इंग्लैंड में जब हर आधे घंटे बाद युद्ध संबंधी समाचार बुलेटिन प्रकाशित हो रहे थे, तब मेरी 'मोहिनी भस्मासुर' और 'सत्यवान' आदि फ़िल्मों के शो आयोजित करने और लंदन में भारतीय फ़िल्मों को गौरव दिलाने के लिए कोशिशें हुईं। लेकिन हिंदुस्तान में मेरे कारखाने की तालाबंदी कर, मेरे प्रशिक्षितों को भगाने तक की नौबत आ चुकी थी। हिंदुस्तानियों की तरह मेरा साहूकार भी भयभीत हो जाने से पैसे लगाने से पीछे हटने लगा। नतीजा यह हुआ कि मेरे कर्मचारियों का वेतन तो दूर उनके मामूली व्यय भी बंद कर दिए गए। हिंदुस्तान लौटने तक सब उधार लेकर दिन गुज़ार रहे थे। बंबई से वहाँ की परिस्थितियों के बारे में तार या पत्र न आने से ख़रीदा हुआ सामान इंग्लैंड में छोड़ना पड़ा और मैं खाली हाथ हिंदुस्तान आया।



'लंका दहन' (1917) फ़िल्म के एक दृश्य में सालुंके

वापिस लौटने पर हर तरह से साहूकार को समझाया, उसके हाथ-पाँव पकड़ कर इंग्लैंड तार भिजवाया और खरीदा सामान मँगवाया। स्टूडियो योजना मेरे बक्से में ही पड़ी रही। कारण बताने की ज़रूरत नहीं।

लेकिन मुसीबत अकेले नहीं आती। जेब खाली होने पर लोग छोड़कर चले गए। जो कुछ थोड़े से ईमानदार लोग बचे उन्हें मलेरिया ने धर दबोचा।

मेरा चीफ़ फ़ोटोग्राफ़र दो बार मौत के मुँह से लौटा। इलेक्ट्रिशियन हैज़े के कारण चल बसा।

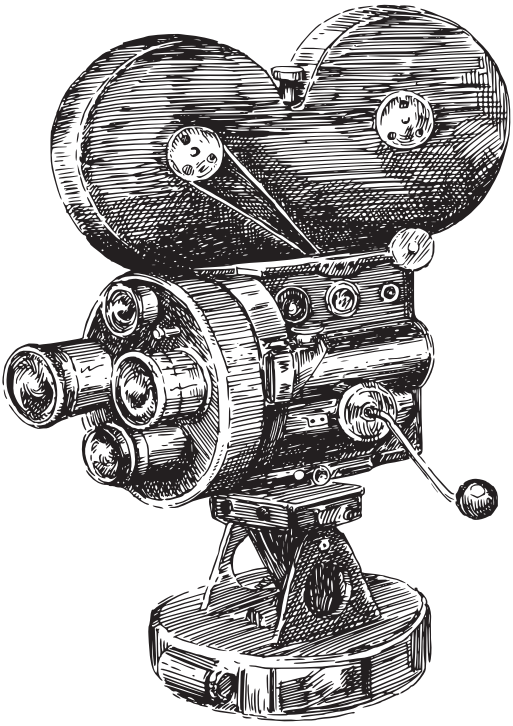


भारत सरकार द्वारा दादा साहेब फाल्के के सम्मान में जारी किया गया डाक टिकट

बिजली का इंजिन फूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। मेरे मैनेजर को इतनी भयानक बीमारी हुई कि बिना ऑपरेशन के चारा नहीं था। उसे जे. जे. हॉस्पीटल में किसी अनाथ की तरह रखना पड़ा। इस बीमारी की स्थिति में उसके खिलाफ़ पुलिस ने झूठा मुकदमा खड़ा किया। वकीलों की फ़ीस, बार-बार बढ़नेवाली पेशियाँ, गाड़ी-भाड़ा, गवाह-सबूत आदि के चक्कर में फँस गया। दयालु सरकार के न्यायी दरबार में मेरा आदमी दोष-मुक्त कर दिया गया और स्वयं कोर्ट ने उलटे पुलिस पर मुकदमा दायर करने की अनुमति दे दी। क्या इसी तरह परमपिता का न्यायी दरबार मुझे संकट मुक्त नहीं करेगा? ऐसे संकट में भी मैंने 'श्रियाल चरित्र' की तैयारी शुरू की। काम की थोड़ी-बहुत शुरुआत हुई थी कि राजा श्रियाल को 103-104 डिग्री बुखार चढ़ गया। मुझे इसकी जानकारी न देते हुए उसने किसी तरह 2-4 दृश्य ईमानदारी के साथ पूरे किए। परिणामस्वरूप उसकी तकलीफ़ और बुख़ार बढ़ गया, और वह बिस्तर से उठने में भी असमर्थ हो गया। देवदार की पट्टियों से बनी सीढ़ियाँ उतरते हुए चांगुणाबाई के पैर में मोच आ गई। मेरा दृढ़ निश्चय चाहे जितना अटल हो, लेकिन साढ़े तीन हाथ के इस हाड़-माँस के शरीर पर तो आपत्तियों का परिणाम होगा ही! अर्ध-कपाली (आधा सिरदर्द) से मैं पीड़ित हो गया। चिंताओं और कष्टों के कारण मेरी नींद उड़ गई। प्रसन्नता की बात यह है कि ऐसे आपातकाल में भी एक दैवी शक्ति का मुझे सहारा था। सिर्फ़ उसी के प्रोत्साहन और मुझ से भी अधिक उसकी कठिन तपस्या के कारण आज मुझे यह सुदिन देखने को मिला है। ऐसे ही कटु काल में एक रात मैं तकिये पर सिर टेके चिंतामान बैठा था कि मेरे पास बैठकर मुझे सांत्वना देने वाली शक्ति धीरे से बोली—"इतने से परेशान क्यों होते हो? क्या चांगुणा का काम मैं नहीं कर पाऊँगी? आप निर्जीव तीलियाँ परदे पर नचाते हैं, फिर मैं तो मानव हूँ, आप मुझे सिखाइए। मैं चांगुणा का काम करती हूँ। लेकिन श्रियाल आप बनिए, मेरे नाम का विज्ञापन मत कीजिए।"



बालक चिलया की भूमिका मेरा बड़ा बेटा निभा रहा था। चाहे सिर्फ़ कैमरा के सामने ही क्यों न हो, जो साध्वी अपने जाए बेटे पर तलवार उठाने के लिए तैयार हो गई, पति के पास कर्मचारियों की कमी होने के कारण मुँह पर रंग पोतने के लिए तैयार हो गई, जिसने एक बार नहीं, दस-पाँच बार शरीर पर जो भी छोटा-मोटा गहना था, देकर संकट के समय सहायता की, "परम पिता आपको लंबी उमर दे, मुझे मंगलसूत्र के सिवा और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं" ऐसी त्यागपूर्ण जिसकी भावना है, उस मेरी गृहलक्ष्मी के कारण ही मुझे अपने कार्य में सफलता मिल रही है।

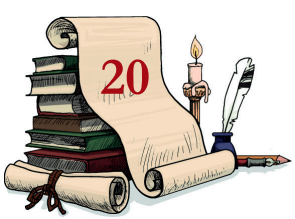


मेरी सफलता के और भी कारण हैं। मेरे थके हुए मन को उत्तेजित करने वाले 'स्टिम्यूलंट्स' मेरे पास काफ़ी हैं। यह आदमी को जानवर बना देने वाले नहीं और न पहले ही घूँट के साथ नरक का द्वार दिखाने वाले हैं। बल्कि इसके सेवन से दरिद्रावस्था में, कटु काल में, संकट में सदा सात्विक उत्तेजना ही प्राप्त होती है।

ईमानदार और जान लड़ा देने वाले कर्मचारी, नि:स्वार्थी मित्रमंडली, कुलशीलवान भार्या, आज्ञाकारी और सुयोग्य संतति और स्वार्थ को भुला देने वाला कारखाने का वातावरण। इतने 'स्टिम्यूलंट्स' के डोज़ मिलते रहने पर मैं थका-हारा नहीं, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है। पूँजी प्राप्त करने के लिए मुझे इस परिस्थिति में नयी फ़िल्म बनाकर दुनिया को दिखाना होगा। मुझ जैसे व्यक्ति को कौन रक़म देता, जिसके पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी! सारांश, जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया, मेरी आशाएँ निराशाओं में परिवर्तित होने लगीं।

पूँजी जुटाने के लिए मैंने हर संभव प्रयास किया। पहली बात मेरे साहूकार के और दूसरी भगवान के बस में थी। यदि मैं एक भी फ़िल्म पूरी कर सका, तो इस युद्ध काल में भी नयी पूँजी खड़ी कर सकता हूँ और चार-पाँच फ़िल्में पूरी करने योग्य रकम की व्यवस्था होने पर अपने को उबार कर स्वतंत्र तौर पर अपने पैरों पर खड़ा कर सकता हूँ, इस आत्मविश्वास के साथ मैंने एक 'स्कीम' प्रकाशित की। शर्म की बात यह है कि इसमें कम-से-कम एक रुपया कर्ज़, ब्याज़ पर माँगने के बावजूद महाराष्ट्र के दो केंद्रों से, पूना और बंबई इन दो आंदोलनकारी मराठी शहरों से, मुझे कुल तीन आश्रयदाता मिले। सूखी सहानुभूति की पत्थर वर्षा में मुझे तीन हिरकनियाँ नज़र आईं। मेरे पास सौ रुपये जमा करने वाली एक हिरकनी ने 'संदेश' में एक विस्तृत लेख लिखकर 'होमरूल' के 15 हज़ार वीरों से आग्रहपूर्वक निवेदन किया था कि वे मुझे 5-5 रुपये दें, लेकिन 5 कौड़ियाँ भी इन राष्ट्रभक्तों से नहीं मिलीं। न फ़ाल्के नए थे, न उनका काम। ज़्यादा देने की शक्ति नहीं, कम देने में लाज आती है। हाँ, न देने के समर्थन में हमारा वाक्-पांडित्य भरपूर है। 'होमरूल' के एक बहुत बड़े नेता ने मुझे स्पष्ट किया कि पहले आप 'होमरूल' के सदस्य के साथ जाइए, होमरूल मिलते ही पूँजी की कमी नहीं रहेगी।

इसी बीच 'पैसा फंड' ने कमर कस ली। गाँव में दशहरे के समय पैसा इकट्ठा किया जाता था। इसके तहत 100-125 रुपये की राशि जमा हो जाती थी। एक गाँव के लोगों ने 100 रुपये जमा कर मुझे देने की घोषणा समाचार पत्र में कर दी। 'पैसा फंड' के दो-तीन व्यक्तियों का मुझे समर्थन भी प्राप्त था। इसके बावजूद मुझे पैसा नहीं मिला। घोड़ा कहाँ अड़ा, कभी पता नहीं चला। मुझे कई कारण मालूम हुए हैं लेकिन मेरी राय में जो काम चुप रहकर काम करने वाले हाथों से हो जाता है, दस बोलने वाले मुँह से संभव नहीं होता है।



शहीद चंद्रशेखर आज़ाद

मन्मथनाथ गुप्त



आज़ादी किसे नहीं अच्छी लगती! चाहे पिंजड़े में बंद पक्षी हो, चाहे रस्सी से बँधा हुआ पशु, सभी परतंत्रता के बंधनों को तोड़ फेंकना चाहते हैं। फिर मनुष्य तो पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और संवेदनशील होता है। उसे तो गुलामी की ज़ंजीरें सदा ही खटकती रहती हैं। सभी देशों के इतिहास में आज़ादी के लिए अपने प्राणों की बलि देनेवाले वीरों के उदाहरण मिलते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व तक भारत परतंत्र था। तब अंग्रेज़ों से स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न बराबर होते रहते थे। सन् 1857 ई. में एक ऐसा ही सामूहिक संघर्ष भारतीय लोगों ने किया था। उसके बाद भी यह संघर्ष निरंतर चलता रहा। जनता में आज़ादी की चिनगारी सुलगाने का काम प्राय: क्रांतिकारी किया करते थे। अंग्रेज़ों को भारत से किसी भी प्रकार निकाल बाहर करने के लिए वे कटिबद्ध थे। ऐसे क्रांतिकारियों को जब भी अंग्रेज़ी सरकार पकड़ पाती, उन्हें फाँसी या कालेपानी की सज़ा देती।

भारत माँ की आज़ादी के लिए अपने प्राणों की आहुति देनेवाले ऐसे क्रांतिकारियों में चंद्रशेखर आज़ाद का नाम अग्रगण्य है।

चंद्रशेखर आज़ाद का जन्म एक बहुत ही साधारण परिवार में मध्य प्रदेश में झाबुआ जिले के एक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं. सीताराम और माता का जगरानी देवी था। बचपन से ही वे बहुत साहसी थे। वे जिस काम को करना चाहते थे उसे करके ही दम लेते थे। एक बार वे लाल रोशनीवाली दियासलाई से खेल रहे थे। उन्होंने साथियों से कहा कि एक सलाई से जब इतनी रोशनी होती है, तो सब सलाइयों के एक

साथ जलाए जाने से न मालूम कितनी रोशनी होगी। सब साथी इस प्रस्ताव पर बहुत खुश हुए, पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ी कि इतनी सारी सलाइयों को एक साथ जलाएँ क्योंकि रोशनी के साथ सलाई में आँच भी होती थी। एक सलाई की आँच झेलना तो कोई बात नहीं थी, पर सब सलाइयों को एक साथ झेलने का खतरा कौन मोल लेता! इसपर चंद्रशेखर सामने आए और उन्होंने कहा, –"मैं एक साथ सब सलाइयों को जलाऊँगा"। उन्होंने ऐसा ही किया। तमाशा तो खूब हुआ किंतु साथ ही उनका हाथ भी जल गया, पर उन्होंने उफ़ तक नहीं की। जब लड़कों ने उनके हाथ की तरफ़ देखा तो मालूम हुआ कि उनका हाथ बहुत जल गया है। सब लड़के उपचार के लिए दौड़ पड़े, पर चंद्रशेखर के चेहरे पर पीड़ा का कोई प्रभाव न था और वे खड़े-खड़े मुस्करा रहे थे।

प्रारंभ में चंद्रशेखर संस्कृत पढ़ने के लिए काशी भेजे गए। पर उनका मन वहाँ नहीं लगा और वे भागकर अपने बाबा के घर अलीपुर स्टेट पहुँच गए। यहाँ पर उन्हें भीलों से मिलने का मौका मिला, जिनसे उनकी खूब घनिष्ठता हो गई। उन्होंने उनसे धनुष-बाण चलाना सीखा और थोड़े ही दिनों में वे अच्छे निशानेबाज हो गए। उनके चाचा ने जब



काशी का एक पुराना स्केच

यह बात सुनी, तो उन्हें फिर काशी भेज दिया गया जिससे कि कम-से-कम उन भीलों का साथ तो छूटे। इस बार वे काशी में टिक गए। काशी में धार्मिक लोगों की ओर से संस्कृत के छात्रों

के लिए छात्र-निवास तथा क्षेत्र खुले हुए थे। ऐसे ही एक स्थान पर रहकर चंद्रशेखर संस्कृत व्याकरण पढ़ने लगे। पर इसमें उनका मन नहीं लगता था। स्वभाव से उन्हें एक जगह टिककर बैठना अच्छा नहीं लगता था। इस कारण वे कभी-कभी गंगा में घंटों तैरते तो कभी कथा बाँचनेवालों के पास बैठकर रामायण, महाभारत और भागवत की कथा सुनते थे। वीरों की गाथाएँ, उन्हें बहुत पसंद थीं।

चंद्रशेखर जब दस-ग्यारह वर्ष के थे तब जलियाँवाला बाग का भयंकर हत्याकांड हुआ, जिसमें सैकड़ों निरपराध भारतीयों को गोली का शिकार होना पड़ा। जलियाँवाला बाग चार दीवारों से घिरा एक मैदान था, जिसमें से बाहर निकलने के लिए केवल एक तरफ़ एक पतला-सा रास्ता था। यह रास्ता इतना संकीर्ण था कि उसमें से कार भी नहीं जा सकती थी। एक दिन जलियाँवाला बाग में सभा हो रही थी। उसमें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भाषण हो रहे थे। सभा चल रही थी कि सेना की एक टुकड़ी के साथ अंग्रेज़ जनरल डायर वहाँ आया और उसने बिना कुछ कहे-सुने निहत्थी भीड़ पर गोलियाँ चलवाना शुरू कर दिया। कोई एक हज़ार आदमी मारे गए। कई हज़ार वहाँ पर घायल हुए। सारे भारत में क्रोध की लहर दौड़ गई। आज़ाद ने भी इस दर्दनाक घटना का वर्णन सुना। यद्यपि उनकी अवस्था छोटी ही थी, तो भी भारतीय राजनीति में उनकी रुचि जग गई और वे भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध कुछ कर दिखाने के उपाय सोचने लगे।



जलियाँवाला बाग (1919) में हुए नरसंहार का मार्मिक चित्रण

उन्हीं दिनों ब्रिटिश युवराज भारत आने को थे। काशी आने का भी उनका कार्यक्रम था। कांग्रेस ने तय किया कि उनका बहिष्कार किया जाए। इस संबंध में जब गांधीजी ने आंदोलन चलाया, तो आज़ाद भी उसमें कूद पड़े। यद्यपि वे अभी बालक ही थे, फिर भी पुलिस ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। उनसे कचहरी में



आज़ाद की किशोरावस्था की तस्वीर

मजिस्ट्रेट ने पूछा, "तुम्हारा क्या नाम है?"

उन्होंने अकड़कर बताया, "आज़ाद।"

"तुम्हारे बाप का नाम क्या है?"

"स्वाधीनता।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जेलखाना।"

मजिस्ट्रेट ने आज्ञा दी, "इसे ले जाओ और पंद्रह बेंत लगाकर छोड़ दो।"

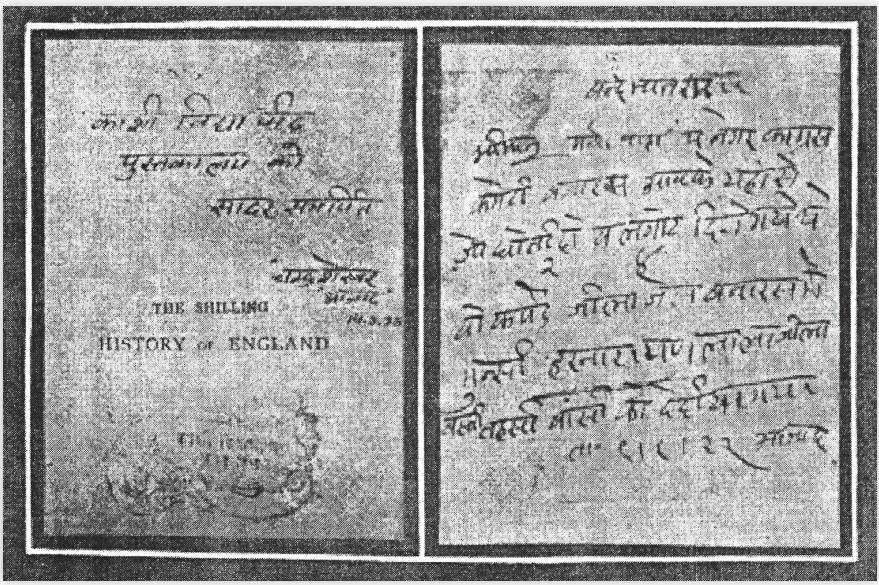
उन दिनों बेंत की सज़ा देने का ढंग बहुत ही क्रूरतापूर्ण था। इस घटना का उल्लेख जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है — "उसे नंगा करके बेंत लगानेवाली टिकठी से बाँध दिया गया। बेंत के साथ चिल्लाता, 'महात्मा गांधी की जय। वह लड़का तब तक यही नारा लगाता रहा जब तक बेहोश न हो गया।"

इस घटना के बाद ही चंद्रशेखर नामक वह बालक 'आज़ाद' के नाम से विख्यात हो गया।

इन्हीं दिनों भारत के क्रांतिकारी अपना संगठन कर रहे थे। चंद्रशेखर आज़ाद



गांधी जी राष्ट्र को संबोधित करते हुए

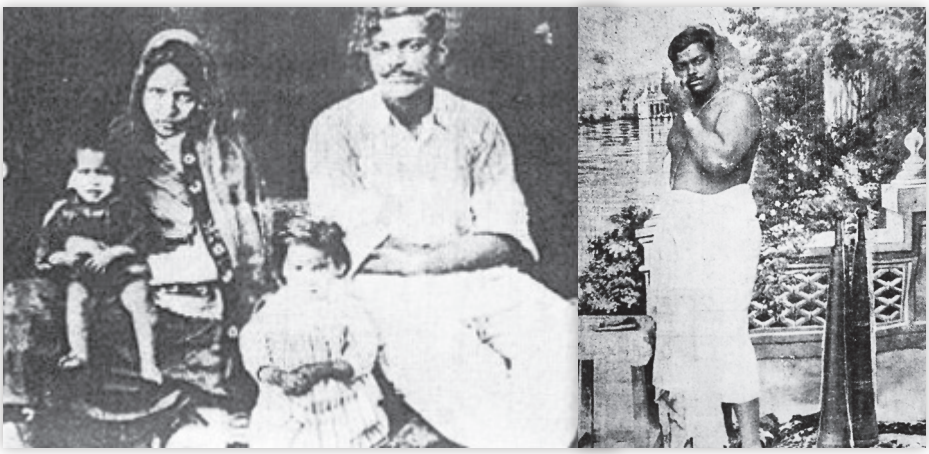


आज़ाद की लिखावट

उनसे अधिक प्रभावित हुए और वे भी उनके दल में शामिल हो गए। क्रांतिकारियों का कहना था कि अंग्रेज़ अहिंसात्मक रीति से नहीं मानेंगे। उनको भय दिखाकर भारत छोड़ने के लिए मज़बूर करना होगा। चंद्रशेखर आज़ाद जिस क्रांतिकारी दल के सदस्य बने वह बहुत बड़ा था और सारे भारत में उसकी शाखाएँ फैली थीं।

क्रांतिकारी दल के सामने बहुत-सी व्यावहारिक समस्याएँ थीं। सबसे बड़ी समस्या यह थी कि संगठन के लिए धन कहाँ से मिले। इसलिए दल की ओर से सन् 1925 ई. में उत्तर प्रदेश में 'काकोरी स्टेशन' के निकट चलती गाड़ी को रोककर सरकारी खज़ाना लूट लिया गया।

इस घटना के होते ही ब्रिटिश सरकार की ओर से गिरफ़्तारियाँ होने लगीं, पर आज़ाद गिरफ़्तार न हो सके। उन्हें पकड़ने के लिए बड़ा इनाम घोषित किया गया। आज़ाद ने भी ठान लिया था कि मुझे कोई जीवित नहीं पकड़ सकेगा, मेरी लाश को ही गिरफ़्तार किया जा सकता है। बाकी लोगों पर मुकदमा चलता रहा और चंद्रशेखर आज़ाद झाँसी के आस-पास के स्थानों में छिपे रहे और गोली चलाने का अभ्यास करते रहे।



बाएँ — आज़ाद पत्नी और बच्चों के साथ, दाएँ — युवा चंद्रशेखर आज़ाद

'काकोरी-षड्यंत्र' के मुकदमे में रामप्रसाद 'बिस्मिल', रोशन सिंह, अशफ़ाकउल्ला और राजेंद्र लाहिड़ी को फाँसी हो गई।

अब उत्तर भारत के क्रांतिकारी दल के नेतृत्व का पूरा भार आज़ाद पर ही आ पड़ा। उन्हें इस संबंध में भगतसिंह आदि कई योग्य साथी मिले। संगठन का काम ज़ोरों से होने लगा। इन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार ने विलायत से 'साइमन' की अध्यक्षता में एक आयोग भेजा। जब आयोग लाहौर पहुँचा, तो सभी दलों ने इसके विरुद्ध प्रदर्शन किया। इस प्रदर्शन में वयोवृद्ध नेता 'लाला लाजपतराय' को लाठी की खतरनाक चोटें आईं। इन्हीं चोटों के कारण कुछ दिनों बाद उनका प्राणांत हो गया। इससे देश का वातावरण बहुत विक्षुब्ध हो गया। चंद्रशेखर *आज़ाद*, *भगतसिंह*, *शिवराम*, *राजगुरु* और *जयगोपाल* ने यह तय किया कि लालाजी की हत्या के लिए ज़िम्मेदार स्कॉट या सैंडर्स को मार डालना चाहिए। 17 सितंबर, 1928 को इन लोगों ने पुलिस सुपरिंटेंडेंट सैंडर्स को गोलियों से भून डाला। पर इनमें से कोई भी पकड़ा न जा सका।

सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने सरकार की दमन नीति का विरोध करने के लिए 7 अप्रैल, 1929 को केंद्रीय असेंबली में बम फेंका। यद्यपि वे जानते थे कि वे पकड़े जाएँगे और उन्हें फाँसी होगी तो भी वहाँ से भाग निकलने की बजाय वे असेंबली भवन में ही अंग्रेज़ों के विरोध में नारे लगाते रहे।

वे दोनों गिरफ़्तार किए गए और उन पर लाहौर-षड्यंत्र केस चला। किंतु चंद्रशेखर आज़ाद अब भी पकड़े नहीं जा सके।



भारत सरकार द्वारा चंद्रशेखर आज़ाद के सम्मान में जारी डाक टिकट

ब्रिटिश सरकार आज़ाद को फ़ौरन पकड़ना चाहती थी, पर वे किसी भी तरह हाथ नहीं आ रहे थे। सन् 1931 ई. की 27 फ़रवरी की बात है। दिन के दस बजे थे। आज़ाद और सुखदेवराज इलाहाबाद के 'अल्फ्रेड पार्क' में बैठे थे। इतने में दो पुलिस अफ़सर वहाँ आए। उनमें से एक आज़ाद को पहचानता था। उसने दूर से आज़ाद को देखा और लौटकर खुफ़िया पुलिस के सुपरिंटेंडेंट नॉट बावर को उसकी ख़बर दी। नॉट बावर इसकी खबर पाते ही तुरंत मोटर द्वारा अल्फ्रेड पार्क पहुँचा और आज़ाद से 10 गज़ के फ़ासले पर उसने मोटर रोक दी। पुलिस की मोटर देखकर आज़ाद का साथी तो बच निकला किंतु वे स्वयं वहीं रह गए। नॉट बावर आज़ाद की ओर बढ़ा। दोनों तरफ़ से एक साथ गोली चली। नॉट बावर की गोली आज़ाद की जाँघ में लगी और आज़ाद की गोली नॉट बावर की कलाई पर, जिससे उसकी पिस्तौल छूटकर गिर पड़ी। उधर और भी पुलिसवाले आज़ाद पर गोली चला रहे थे। नॉट बावर हाथ से पिस्तौल छूटते ही एक पेड़ की ओट में छिप गया। आज़ाद के पास हमेशा काफ़ी गोलियाँ रहती थीं, जिनका इस अवसर पर उन्होंने खूब उपयोग किया। नॉट बावर जिस पेड़ की आड़ में था, आज़ाद मानो उस पेड़ को छेदकर नॉट बावर को मार डालना चाहते थे।

पूरे एक घंटे तक दोनों ओर से गोलियाँ चलती रहीं। कहते हैं जब आज़ाद के पास गोलियाँ खत्म होने लगीं तो अंतिम गोली उन्होंने स्वयं अपने को मार ली। इस प्रकार वह महान योद्धा मातृ-भूमि के लिए अपने प्राणों की आहुति देकर सदा के लिए सो गया। अपनी यह प्रतिज्ञा उन्होंने अंत तक निभाई कि वे कभी ज़िंदा नहीं पकड़े जाएँगे।

जब आज़ाद का शरीर बड़ी देर निस्पंद पड़ा रहा तब पुलिसवाले उनकी ओर आगे बढ़े। किंतु आज़ाद का आतंक इतना था कि उन्होंने



आज़ाद की प्रतिमा, अल्फ्रेड पार्क, इलाहाबाद

पहले एक गोली मृत शरीर के पैर में मारकर निश्चय कर लिया कि वे सचमुच मर गए हैं।

आज़ाद जिस स्थान पर शहीद हुए, वहाँ उनकी एक प्रतिमा स्थापित की गई है। वहाँ जानेवाला हर व्यक्ति उस वीरात्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करता है जिसने अपनी जन्म-भूमि की पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए अपना जीवन सहर्ष बलिदान कर दिया।

यही मेरी पढ़ाई थी और खेल भी

रामानुजन



तमिलनाडु के ऐतिहासिक नगर तंजौर के पास एक जगह है ईरोड। यहाँ के लोग नारियल के बागों और धान के खेतों में मेहनत-मज़दूरी करके जीने वाले लोग थे। मेरे पिता श्रीनिवास आयंगर के पास न तो खेत थे, न ही नारियल के बाग। ब्राह्मण होने के कारण उन्हें मज़दूरी भी नहीं मिलती थी। पुरोहिती करना उन्हें पसंद नहीं था। ऐसे में नौकरी की तलाश में वे 'कुंभकोणम' पहुँच गए। वहाँ कपड़े की एक दुकान में मुनीम हो गए। वहीं 1887 में मेरा जन्म हुआ।

मेरे पिताजी अपना काम ईमानदारी से करते थे। दुकानदार को लाभ कमाते देख भी कभी उनके मन में लाभ कमाने की बात नहीं आई। वे सुबह से लेकर रात तक दुकान के काम में जुटे रहते। थके-हारे घर आते, तो वहाँ भी हिसाब-किताब, रोकड़-बही की बातें करते। मैं पिता की प्रतीक्षा में जागा रहता। उनकी बातें सुनता रहता। धीरे-धीरे मुझे भी उन बातों में मज़ा आने लगा।

> "मैं यह भी अंदाज़ा लगाने की कोशिश करता कि यह पेड़ कुछ छोटा हो जाए और दूसरा कुछ बड़ा तो दोनों बराबर हो जाएँ। मैं पेड़ों को आँखों से ही नापने की कोशिश करता।"

थोड़ा बड़ा होने पर मैं कस्बे में घूमने-घामने लगा। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पेड़ दिखाई देते। लोग उन पर चढ़ते-उतरते रहते। उन्हें देखकर मुझे लगता,



सारंगपानी स्ट्रीट, कुंभकोणम में रामानुजन का घर

अब वे आधी दूरी पार कर गए, अब चोटी पर पहुँच गए। मैं यह भी अंदाज़ा लगाने की कोशिश करता कि यह पेड़ कुछ छोटा हो जाए और दूसरा कुछ बड़ा तो दोनों बराबर हो जाएँ। मैं पेड़ों को आँखों से ही नापने की कोशिश करता।

कभी मैं भेड़ों के झुंडों को गिनने की कोशिश करता। कभी भेड़ें भागने लगतीं और चरवाहे परेशान हो जाते तो मैं ठीक-ठीक गिनकर भेड़ों की संख्या उन्हें बता देता। यही मेरी पढ़ाई थी और यही खेल भी था। घर में पढ़ाई की कोई खास व्यवस्था नहीं थी। पहाड़े, जोड़-घटाव, गुणा-भाग मुझे सिखलाए गए। मैं पाँच-छह वर्ष का होते-होते लंबे-लंबे जोड़ लगाने लगा। फिर खुद ही बड़ी-बड़ी संख्याएँ लिखता, उनको जोड़ता-घटाता। इस खेल में मुझे मज़ा आता।

मैं जब सात वर्ष का हुआ, मेरा नाम कुंभकोणम हाई स्कूल में लिखवा दिया गया। स्कूल जाने के लिए मेरे कपड़े विशेष रूप से धोए गए थे। पैरों में चप्पलें नहीं थीं, फिर भी कई मील दूर पैदल चलकर मैं स्कूल पहुँचा था। स्कूल में पढ़ने में मेरा बहुत मन लगता था। मेरा मन सबसे अधिक गणित के पीरियड में लगता था। मास्टर साहब से सवाल हल करने की विधि सीखकर मैं दूसरी विधि भी निकालने की कोशिश करता।

गणित के अलावा दूसरे विषयों में मेरा मन विशेष नहीं लगता था। बाकी विषयों की कक्षाओं में भी मैं गणित के सवाल ही हल करता रहता था। एक बार इतिहास की कक्षा में मास्टर साहब ने कोई सवाल पूछ लिया, तो मैं जवाब नहीं दे सका। मेरा ध्यान तो गणित के सवालों में लगा हुआ था।

गणित की कक्षा में एक बार मास्टर साहब ने बताया कि किसी संख्या को उसी संख्या से भाग दें तो भागफल एक होता है। उन्होंने उदाहरण देकर इसे समझाया भी। मैंने खड़े होकर कहा, — "शून्य को शून्य से भाग दें तो भागफल कुछ नहीं होगा।" लेकिन मास्टर साहब शून्य बटा शून्य भी एक ही बताते रहे। मैंने फिर कहा, "शून्य बटे शून्य का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिए शून्य बटा शून्य एक नहीं होगा।"

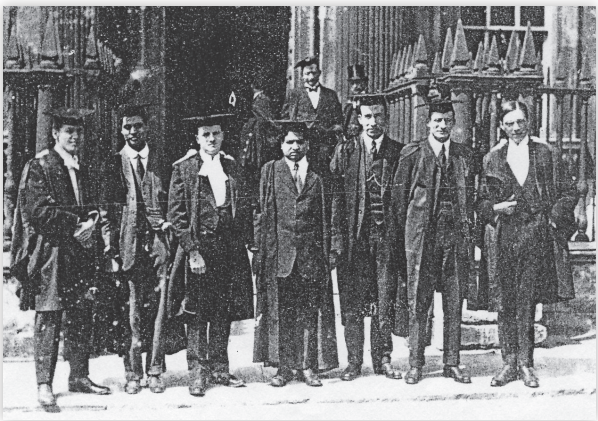
मास्टर साहब ने मुझे डाँटकर बैठा दिया, लेकिन मुझे उस समय भी अपनी बात पर विश्वास था।



ह्वेवेल्स कोर्ट, ट्रिनिटी कॉलेज, कैंब्रिज, जहाँ रामानुजन ने पढ़ाई की

दूसरे विषयों के शिक्षक मुझे अच्छा विद्यार्थी नहीं समझते थे। लेकिन मैं गणित में लगातार आगे बढ़ता रहा। घर से बहुत कम खाकर स्कूल जाता। अक्सर तो मैं कॉफ़ी के बीज पानी में उबालकर तथा उस घोल को नमक के साथ पीकर ही स्कूल चला जाता और दिनभर भूखे पढ़ता रहता। इसी तरह 1903 के दिसंबर में मैंने मद्रास यूनिवर्सिटी से मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली। गणित में मुझे बहुत अच्छे अंक मिले। अँग्रेज़ी में उससे कम और दूसरे विषयों में बस पास मार्क्स! मेरे पास होने की घर वालों को बस इतनी ही खुशी हुई कि अब मुझे किसी दफ़्तर में क्लर्क की नौकरी मिल जाएगी।

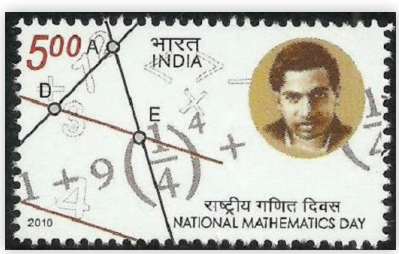
1904 के आरंभ में मैं कुंभकोणम गवर्नमेंट कॉलेज में पढ़ने लगा। वहाँ भी वही हाल रहा, लेकिन वज़ीफा मिल जाने से समस्या कुछ दूर हुई। कॉलेज में भी मुझे गणित को छोड़कर दूसरे विषय पढ़ने का मन नहीं



रामानुजन ट्रिनिटी कॉलेज में अन्य वैज्ञानिकों के साथ (बीच में)

करता था। इस वजह से मैं एफ. ए. में फेल हो गया। मैं अठारह साल का था, घर से भाग गया। सोचा था कि कहीं जाकर ट्यूशन कर लूँगा और उसी खर्च से गुज़ारा कर लूँगा। घर के अपमान से बचने के लिए मैं भागा था, लेकिन भागने पर कदम-कदम पर अपमान मिलने लगा। कोई मुझे आवारा समझता, कोई भिखारी। जब घर की याद मुझे बुरी तरह सताने लगी, तो मैं घर लौट आया। अब मैं मद्रास के एक कॉलेज में भर्ती हो गया। लेकिन परीक्षा में फिर वही परिणाम हुआ—गणित में अच्छे अंक, अँग्रेज़ी में पास और बाकी विषयों में फ़ेल!

अब मैं चुपचाप घर में पड़ा रहता। कोई मुझसे सीधे मुँह बात भी नहीं करता था। उन्हीं दिनों मेरे एक मित्र ने एक किताब लाकर दी जिसमें गणित के ढेर सारे सूत्र संग्रहीत थे। मैं उन सूत्रों को हल करने लगा और उसी तरह के सूत्र बनाने लगा।



भारत सरकार द्वारा रामानुजन के सम्मान में जारी डाक टिकट

बीस वर्ष की उम्र में मेरी शादी कर दी गई। अब मुझे नौकरी की चिंता सताने लगी। मैं पोर्ट- ट्रस्ट के दफ़्तर में क्लर्क बन ही गया। दफ़्तर में काम करते हुए भी मैं गणित में उलझा रहता। दोपहर में लंच के समय जब सभी लोग उठकर चले जाते, मैं कागज़ पर सवाल हल करता रहता। एक दिन एक अँग्रेज़ अफ़सर ने मुझे ऐसा करते देख लिया। वे इससे प्रभावित हुए। उन्होंने अपने मित्र के साथ मिलकर मुझे इंग्लैंड जाने को प्रेरित किया। इंग्लैंड जाने में उन्होंने मेरी मदद भी की। मैं कैंब्रिज विश्वविद्यालय चला गया। वहाँ गणित की पढ़ाई और खोज में मुझे बहुत सुविधा मिली।

— संजीव ठाकुर



गोल

मेजर ध्यानचंद





खेल के मैदान में धक्का-मुक्की और नोंक-झोंक की घटनाएँ होती रहती हैं। खेल में तो यह सब चलता ही है। जिन दिनों हम खेला करते थे, उन दिनों भी यह सब चलता था।

सन् 1933 की बात है। उन दिनों में मैं, पंजाब रेजिमेंट की ओर से खेला करता था। एक दिन पंजाब रेजिमेंट और सैंपर्स एंड माइनर्स टीम के बीच मुकाबला हो रहा था। माइनर्स टीम के खिलाड़ी मुझसे गेंद छीनने की कोशिश करते, लेकिन उनकी हर कोशिश बेकार जाती। इतने में एक खिलाड़ी ने गुस्से में मे आकर हॉकी स्टीक मेरे सिर पर दे मारी। मुझे मैदान में बाहर ले जाया गया।

थोड़ी देर बाद मैं पट्टी बाँधकर फिर मैदान में आ पहुँचा। आते ही मैंने उस खिलाड़ी की पीठ पर हाथ रख कर कहा — "तुम चिंता मत करो, इसका बदला मैं जरूर लूँगा।" मेरे इतना कहते ही वह खिलाड़ी घबरा गया। अब हर समय मुझे ही देखता रहता कि मैं कब उसके सिर पर हॉकी स्टीक मारने वाला हूँ। मैंने एक के बाद एक झटपट छह गोल कर दिए। खेल खत्म होने के बाद मैंने फिर उस खिलाड़ी की पीठ थपथपाई और कहा— "दोस्त, खेल में इतना गुस्सा अच्छा नहीं। मैंने तो अपना बदला ले ही लिया है। अगर तुम मुझे हॉकी नहीं मारते तो शायद मैं तुम्हें दो ही गोल से हराता।" वह खिलाड़ी सचमुच बड़ा शर्मिंदा हुआ। तो देखा आपने मेरा बदला लेने का ढंग? सच मानो, बुरा काम करने वाला आदमी हर समय इस बात से डरता रहता है कि उसके साथ भी बुराई की जाएगी।



आज मैं जहाँ भी जाता हूँ बच्चे व बूढ़े मुझे घेर लेते हैं और मुझसे मेरी सफलता का राज़ जानना चाहते हैं। मेरे पास सफलता का कोई गुरु-मंत्र तो है नहीं। हर किसी से यही कहता हूँ कि लगन, साधना और खेल भावना ही सफलता के सबसे बड़े मंत्र हैं।

मेरा जन्म सन् 1904 में प्रयाग में एक साधारण परिवार में हुआ। बाद में हम झाँसी आकर बस गए। 16 साल की उम्र में मैं "फर्स्ट ब्राह्मण रेजिमेंट" में एक साधारण सिपाही के रूप में भर्ती हो गया। मेरी रेजिमेंट का हॉकी खेल में काफी नाम था। पर खेल में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। उस समय हमारी रेजिमेंट के सूबेदार मेजर तिवारी थे। वह बार-बार मुझे हॉकी खेलने के लिए कहते। हमारी छावनी में हॉकी खेलने का कोई निश्चित समय नहीं था। सैनिक जब चाहे मैदान में पहुँच जाते और अभ्यास शुरू कर देते। उस समय मैं एक नौसिखिया खिलाड़ी था।

जैसे-जैसे मेरे खेल में निखार आता गया, वैसे-वैसे मुझे तरक्की भी मिलती गई। सन् 1936 में बर्लिन ओलंपिक में मुझे कप्तान बनाया गया। उस समय मैं सेना में लांस नायक था। बर्लिन ओलंपिक में लोग मेरे हॉकी हॉकी खेलने के ढंग से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मुझे "हॉकी का जादूगर" कहना शुरू कर दिया। इसका यह मतलब नहीं कि सारे गोल मैं ही करता था। मेरी तो हमेशा यह कोशिश रहती कि मैं गेंद को गोल के पास ले जाकर अपने किसी साथी खिलाड़ी को दे दूँ ताकि उसे गोल करने का श्रेय

> **"दोस्त, खेल में इतना गुस्सा अच्छा नहीं। मैंने तो अपना बदला ले ही लिया है। अगर तुम मुझे हॉकी नहीं मारते तो शायद मैं तुम्हें दो ही गोल से हराता।"**



1936 में जर्मनी के खिलाफ़ फाइनल मैच खेलते हुए ध्यानचंद

मिल जाए। अपनी इसी खेल भावना के कारण मैंने दुनिया के खेल प्रेमियों का दिल जीत लिया। बर्लिन ओलंपिक में हमें स्वर्ण पदक मिला।

खेलते समय मैं हमेशा इस बात का ध्यान रखता था कि हार या जीत मेरी नहीं, बल्कि पूरे देश की है।



स्टेज पर वह माँ की आखिरी रात थी

चार्ली चैपलिन



मैं तब साढ़े तीन बरस का था। सिडनी, मेरा भाई, मुझसे चार बरस बड़ा था। माँ थिएटर कलाकार थीं, हम दोनों भाइयों को बहुत प्यार से लिटाकर थिएटर चली जाती थीं। नौकरानी हमारी देखभाल किया करती थी। रोज़ रात को थिएटर से लौटकर माँ हम दोनों भाइयों के लिए खाने की अच्छी-अच्छी चीज़ें मेज़ पर ढँककर रख देती थीं। सुबह उठकर हम दोनों खा लेते थे और बिना शोर मचाए माँ को देर तक सोने देते थे।

मेरी स्मृति में पिता भी हैं जो माँ के साथ नहीं रहा करते थे, और दादी भी, जो हमेशा मेरे साथ छोटे बच्चों जैसी बातें किया करती थीं। उनका घर का नाम स्मिथ था। मैं छह साल का भी नहीं हुआ था कि वे चल बसीं।

माँ को कई बार मज़बूरी में भी काम पर जाना पड़ता था। सर्दी-ज़ुकाम के चलते गला खराब होने पर भी उन्हें गाना पड़ता था। इससे उनकी आवाज़ खराब होती गई। स्टेज पर गाते हुए उनकी आवाज़ कभी-कभी गायब हो जाती और फुसफुसाहट में बदल जाती। श्रोता चिल्लाना और माँ का मज़ाक उड़ाना शुरू कर देते। इस चिंता में माँ भी मानसिक रूप से बीमार जैसी होने लगीं। उनको थिएटर से बुलावा आना भी बंद होने लगा। माँ की इस परेशानी की वजह से केवल पाँच वर्ष की उम्र में ही मुझे स्टेज पर



माँ हन्ना चैपलिन और पिता चार्ल्स चैपलिन

उतरना पड़ा। माँ उन दिनों मुझे भी अपने साथ थिएटर ले जाया करती थीं। एक बार गाते-गाते माँ की आवाज़ फ़ट गई और फुसफुसाहट में बदल गई। श्रोतागण कुत्ते और बिल्लियों की आवाज़ें निकालने लगे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या हो रहा है। माँ स्टेज छोड़कर चली गईं। स्टेज मैनेजर माँ से मुझे स्टेज पर भेज देने की बात कर रहा था। उसने माँ की सहेलियों के सामने मुझे अभिनय करते देखा था। स्टेज मैनेजर मुझे स्टेज पर लेकर चला ही गया और मेरा परिचय देकर वापस लौट गया। मैं गाने लगा। गाने के बीच में ही सिक्कों की बरसात होने लगी। मैंने सिक्कों को बटोरना ज़्यादा ज़रूरी समझा और दर्शकों से साफ़-साफ़ कह दिया कि पहले मैं सिक्के बटोरूँगा, फिर गाऊँगा। इस बात पर दर्शक ठहाके लगाने लगे। स्टेज मैनेजर एक रूमाल लेकर स्टेज पर आया और सिक्के बटोरने में मेरी मदद करने लगा। मुझे लगा कि वह मेरे सिक्के ले लेगा, सो दर्शकों से भी यह बात मैंने कह दी। इस बात पर ठहाकों का दौर ही चल पड़ा। स्टेज मैनेजर जब सिक्के बटोरकर जाने लगा तब मैं भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। सिक्के की पोटली माँ को सौंपे जाने पर ही मैं वापस स्टेज पर आया। फिर जमकर नाचा, गाया। मैंने तरह-तरह की नकल करके दिखाई।

अपने भोलेपन में मैं माँ की खराब आवाज़ और फुसफुसाहट की भी नकल कर बैठा। लोगों को इससे और अधिक मज़ा आया और वे फिर सिक्के बरसाने लगे। **मैं अपने जीवन में पहली बार स्टेज पर उतरा था और वह स्टेज पर माँ की आखिरी रात थी।**

यहीं से हमारे जीवन में अभाव का आना शुरू हो गया। माँ की जमा पूँजी धीरे-धीरे खत्म होती गई। हम तीन कमरों वाले मकान

से दो कमरों वाले मकान में आए, फिर एक कमरे के मकान में। हमारा सामान भी धीरे-धीरे बिकता गया। माँ को स्टेज के अलावा कुछ आता नहीं था, लेकिन उन्होंने सिलाई का काम शुरू कर दिया। इससे कुछ पैसे हाथ में आने लगे। घर का सामान तो धीरे-धीरे बिक ही गया, पर माँ थिएटर की पोशाकों वाली पेटी सँभाले हुई थीं। शायद कभी उनकी आवाज़ वापस आ जाए और उन्हें थिएटर में काम मिलना शुरू हो जाए। उन पोशाकों को पहनकर माँ तरह-तरह के अभिनय कर मुझे दिखलातीं। ढेर सारे गीत और संवाद सुनातीं। अपनी अज्ञानता में, मैं माँ को फिर से स्टेज पर जाने को कहता। माँ मुस्कुरातीं और कहतीं, "वहाँ का जीवन नकली है, झूठा है।"

हमारी गरीबी की कहानी यह थी कि सर्दियों में पहनने के लिए कपड़े नहीं बचे थे। माँ ने अपने पुराने रेशमी जैकेट को काटकर सिडनी के लिए एक कोट सी दिया। सिडनी वह कोट देखकर रो पड़ा। माँ के समझाने-बुझाने पर वह कोट पहनकर स्कूल तो चला गया लेकिन लड़के उसे चिढ़ाने लगे। माँ की ऊँची एड़ी की सैंडिलों को काट-छाँटकर बनाए गए सिडनी के जूते भी कम मज़ाक के पात्र नहीं थे! और माँ के पुराने लाल मोज़ों को काटकर बनाए मोज़ों को पहनकर जाने की वजह से लड़कों ने मेरा भी खूब मज़ाक बनाया था।



बचपन में चार्ली

इतनी तकलीफ़ों को सहते-सहते माँ को आधासीसी सिरदर्द की शिकायत शुरू हो गई। उन्हें सिलाई का काम भी छोड़ देना पड़ा। अब हम गिरिजाघरों की खैरात पर पल रहे थे, दूसरों की मदद के सहारे जी रहे थे। सिडनी अखबार बेचकर इस गरीबी के विरुद्ध थोड़ा लड़ रहा था। ऐसे में एक चमत्कार जैसा हुआ। अखबार बेचते हुए बस के ऊपरी तल्ले की एक खाली सीट पर उसे एक बटुआ पड़ा हुआ मिला। बटुआ लेकर वह बस से उतर गया। सुनसान जगह पर जाकर उसने बटुआ खोला तो देखा

कि उसमें चाँदी और ताँबे के सिक्के भरे पड़े हैं। वह घर की तरफ़ भागा। माँ ने बटुए का सारा सामान बिस्तर पर उलट दिया। बटुआ अब भी भारी लग रहा था। बटुए के भीतर भी एक जेब थी। माँ ने उस जेब को खोला तो देखा कि उसके अंदर सोने के सात सिक्के छुपे हुए हैं। हमारी खुशी का ठिकाना नहीं था। बटुए में किसी का पता भी नहीं था इसलिए माँ की झिझक थोड़ी कम हो गई। माँ ने इसे ईश्वर के वरदान के रूप में ही देखा।



चार्ली चैपलिन अभिनीत फ़िल्मों के पोस्टर



वर्जीनिया और चार्ली चैपलिन – (1920)

धीरे-धीरे हमारा खज़ाना खाली हो गया और हम फिर से गरीबी की ओर बढ़ गए। कहीं कोई उपाय नहीं था। माँ को कोई काम नहीं मिल रहा था। उनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं चल रहा था। इसलिए उन्होंने तय किया कि हम तीनों यतीमखाने में भरती हो जाएँ।

यतीमखाने में भी कम कठिनाइयाँ नहीं थीं। कुछ दिनों बाद हम वहाँ से निकल आए। सिडनी जहाज़ पर नौकरी करने चला गया। माँ फिर से कपड़े सीने लगीं। मैं कभी फूल बेचने जाता तो कभी कागज़ के खिलौने बनाता। किसी तरह गुज़ारा हो रहा था।

एक दिन मैं बाहर से आ रहा था कि गली में बच्चों ने बताया, "तुम्हारी माँ पागल हो गई हैं।" उन्हें पागलखाने में भरती करवाना पड़ा। सिडनी जहाज़ की नौकरी छोड़कर चला आया। उसके पास जो पैसे थे वह माँ को देना चाहता था। लेकिन माँ की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उस पैसे को ले पातीं। जहाज़ से लौटकर सिडनी ने नाटकों में काम करना शुरू कर दिया। मैंने कई तरह के काम किए — अखबार बेचे, खिलौने बनाए, किसी डॉक्टर के यहाँ नौकरी की, काँच गलाने का काम किया, बढ़ई की दुकान पर रहा। इन कामों से जब भी समय बचता मैं किसी नाटक कंपनी के चक्कर लगा आता। लगातार आते-जाते आखिर एक दिन एक नाटक में मुझे काम मिल ही गया। मुझे मेरा रोल दिया गया। मैं उसे पढ़ना ही नहीं जानता था। उसे लेकर मैं घर आया। सिडनी ने बड़ी मेहनत की और तीन ही दिनों में मुझे अपना रोल रटवा दिया।

नाटकों का यह हाल था कि कभी प्रशंसा मिलती तो कभी टमाटर भी फेंके जाते। ऐसे में एक दिन मैंने अमरीका जाने का निश्चय कर लिया। सिडनी के लिए चिट्ठी छोड़कर एक नाटक कंपनी के साथ अमरीका

चला गया। वहाँ कई नाटक किए। एक नाटक में मेरा काम देखकर एक व्यक्ति ने फ़ैसला किया कि जब कभी वह फ़िल्में बनाएगा मुझे ज़रूर लेगा। बहुत दिनों बाद ही सही वह दिन आया और मैक सीनेट नाम के उस व्यक्ति ने मुझे ढूँढ़ निकाला। अपनी 'की-स्टोन कॉमेडी कंपनी' में नौकरी दी। फ़िल्मों का यह काम मेरे पिछले कामों से बिलकुल अलग था। एक बार शूटिंग करते वक्त निर्देशक ने कहा, "कुछ मज़ा नहीं आ रहा है। तुम कोई कॉमिक मेकअप करके आ जाओ।"



चैपलिन की विशिष्ट मुस्कान—एक फ़िल्म का दृश्य

मैं ड्रेसिंग रूम में गया। इधर-उधर देखा। पास ही एक ढीली-ढाली पतलून थी। मैंने उसे पहन लिया। उस पर एक खराब-सा बेल्ट बाँध लिया। ढूँढ़-ढाँढ़कर एक चुस्त कोट पहन लिया। अपने पैरों से बहुत बड़े जूते पहन लिए। छोटी-सी टोपी सिर पर डाल ली। बूढ़ा दिखने के खयाल से टुथब्रश जैसी मूँछे लगा लीं। एक पतली-सी छड़ी को उठा लिया। आईने में देखने पर मैं खुद को ही नहीं पहचान पा रहा था। छड़ी लहराते और कमर लचकाते जब मैं बाहर आया तो लोग ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे, ठहाके लगाने लगे। लोगों की हँसी की आवाज़ सुनकर जब निर्देशक ने मेरी ओर देखा तो वह खुद भी पेट पकड़कर हँसने लगा। हँसते-हँसते उसे खाँसी होने लगी।

यही मेरा वह रूप था, जो मेरे साथ हमेशा चिपका रहा, लोगों की तारीफ़ें पाता रहा।

— संजीव ठाकुर

स्कूल के दिन

कौसल्या बैसंत्री



एक कार्यक्रम में कौसल्या 'बैसंत्री' पुरस्कार लेते हुए

मैंने चौथी कक्षा पास की और भिड़े कन्याशाला में ही पाँचवीं में प्रवेश लिया। यह हाईस्कूल था। प्राइमरी को 'छोटी भिड़े कन्या' और हाई स्कूल को 'बड़ी भिड़े कन्याशाला' कहते थे। दोनों स्कूल अलग-अलग थे। दोनों में सिर्फ़ पाँच मिनट आने-जाने में लगते थे। अब मेरी छोटी बहन भी 'भिड़े कन्याशाला' में प्राइमरी में पढ़ने लगी थी। वह मेरे से दो कक्षा पीछे थी। तब भी उस प्राइमरी स्कूल में एक भी अस्पृश्य लड़की नहीं थी। पाँचवीं कक्षा में और छठी-सातवीं में कुछ लड़कियाँ थीं। उन्होंने कहीं से प्राइमरी पास किया था।

हमारे दोनों स्कूलों के आगे सोमवार और बृहस्पतिवार को बाज़ार लगता था। बाबा वहाँ पर अपनी दुकान सजाकर बैठते। खाने की छुट्टी में हम दौड़कर बाबा के पास जातीं। वे हमारे लिए चने-मुरमुरे खरीदकर रखते और हमें देते। मैं और मेरी बहन चने लेकर जल्दी उलटे पाँव वापस स्कूल आतीं। हम आगे-पीछे, इधर-उधर ताकती रहतीं कि हमारे स्कूल की लड़कियाँ न देखें कि हमारे पिता कबाड़ी हैं। हमारे स्कूल की कुछ ब्राह्मण लड़कियों के पिता वकील, कुछ के डॉक्टर, कुछ के सरकारी दफ़्तर में काम करते थे। कोई इंजीनियर या मैनेजर था। इसलिए हमें हीनता महसूस होती थी।

एक बार हम कामठी जा रहे थे। गाड़ी में एक ब्राह्मण बैठे थे। उन्होंने हमसे बड़े प्यार से पूछा, कौन-सी कक्षा में पढ़ती हो ? हमने उन्हें स्कूल के नाम-कक्षा के बारे में बताया। उन्होंने पूछा, तुम्हारे पिता क्या करते हैं? हमने झूठ बोल दिया कि वे इंजीनियर हैं और बिजली के दफ़्तर में काम करते हैं। वे भी नागपुर के बिजलीघर में काम करते



थे। उन्होंने पिताजी का नाम पूछा। मैंने रोब में आकर कहा, "आर. के. नंदेश्वर (रामाजी कान्हजी नंदेश्वर)।" तब उन्होंने कहा,— "इस नाम का तो कोई व्यक्ति वहाँ नहीं है, मैं वहीं काम करता हूँ।" मैं झेंप गई थी।

मेरी छोटी बहन 'छोटी भिड़े कन्याशाला' में पढ़ती थी। उसकी साढ़े-तीन बजे छुट्टी हो जाती थी। वह मेरे स्कूल में आकर बैठ जाती थी। कभी झूले पर झूलती, कभी सीसॉ पर खेलती रहती थी, क्योंकि मेरी साढ़े चार बजे छुट्टी होती थी। तब तक वह मेरी प्रतीक्षा करती थी। कभी-कभार अपनी क्लास का दिया हुआ अभ्यास पूरा करती रहती। हम दोनों साथ-साथ स्कूल जातीं, साथ-साथ घर आती थीं। मैं जहाँ कहीं जाती, वह मेरे साथ छाया की तरह रहती थी।

बड़ी बहन अपनी ससुराल में थीं। उन्हें अब कई बच्चे भी हो गए थे। माँ अब सब बहनों को स्कूल भेजती थीं। हम दोनों बहनें 'भिड़े कन्याशाला' में पढ़ने जाती थीं। उसके बाद वाली बहन को माँ ने हिंदी माध्यम वाले अम्माजी के स्कूल में डाला। वह नागपुर में हिंदी माध्यम वाला प्रसिद्ध स्कूल था। उसका नाम 'प्रॉव्हीडेन्स गर्ल्स हाईस्कूल' था। इसे ईसाई नन्स चलाती थीं। सबसे छोटी बहन को भी माँ ने सेंट उरसुला गर्ल्स हाईस्कूल में डाला। इसे भी ईसाई मिशनरी चलाते थे और यह प्रसिद्ध स्कूल था। सबसे छोटी बहन पढ़ाई में बहुत अच्छी थी। अपनी कक्षा में अव्वल आती थी। भाई ने बस्ती गड्डीगोदाम के 'नगरपालिका' स्कूल से अच्छे नंबरों से प्राइमरी पास की। उसे भी नागपुर के सरकारी स्कूल 'पटवर्धन हाईस्कूल' में प्रवेश मिला। भाई भी पढ़ाई में बहुत अच्छा था। छोटी बहन को 'स्कॉलरशिप' भी मिली थी सरकार की ओर से।

जब मैं प्राइमरी में चौथी कक्षा में थी, तब शिक्षिका मुझसे बहुत काम करवाती थीं। कभी होटल से चाय मँगवाने भेजतीं, कभी कुछ समान लाने भेजतीं। दूसरी लड़कियों को नहीं भेजती थीं। जाँचने की कॉपियों का बड़ा बंडल मेरे हाथ में पकड़ाकर अपने घर पहुँचाने को कहतीं। मेरा अपना बस्ता

और जाँचने की कॉपियों का बंडल लेकर आने से मेरे हाथ दुखने लगते थे। घर स्कूल से काफ़ी दूर था। पहुँचाने पर कभी दो बिस्कुट या अन्य पदार्थ खाने को देती थीं। कभी कुछ भी नहीं देती थीं। कुछ लाने को भूल जातीं तो मुझे अपने घर दौड़ातीं। मैं चुपचाप सब कर लेती थी। मेरे घटिया कपड़ों के कारण ब्राह्मणों की लड़कियाँ मेरे साथ दोस्ती नहीं करती थीं। कुनबी की लड़कियाँ थीं, तो मैं उनके साथ बैठ जाती थी। अब वे नहीं थीं तो मैं अकेली ही खाने की छुट्टी में बैठकर लड़कियों का खेल देखती थी।



कौसल्या बैसंत्री के आत्मकथात्मक उपन्यास 'दोहरा अभिशाप' पर आयोजित कार्यक्रम का दृश्य

एक बार एक लड़की की किताब शिक्षिका ने पढ़ने को ली और उसे लौटाना भूल गईं। अपने स्कूल की अलमारी में उसे रख दिया और उसके ऊपर दूसरी कॉपियाँ और पुस्तकें रख देने से वह किताब दब गई। लड़की ने इधर-उधर ढूँढ़ा परंतु नहीं मिली। तब उसको मेरे ऊपर शक हुआ कि मैंने ही चुराई। गरीब घर की लड़की थी इसलिए मेरे ऊपर इल्जाम लगाया। शिक्षिका को भी लगा शायद मैंने ही चुराई। उस लड़की ने तो मेरी किताब छीन ली। मुझे रोना आ गया। मैं बार-बार कह रही थी कि मेरे पास नहीं है, मैंने नहीं ली, फिर भी वह मेरे ऊपर अविश्वास कर रही थी। कुछ दिन बाद शिक्षिका अपनी अलमारी ठीक-ठाक कर रहीं थीं, तब उस लड़की की किताब वहाँ मिली। इसका मेरे मन पर गहरा असर हुआ था और मैं बहुत रोई थी।

शिक्षिका एक बार कक्षा की लड़कियों को नागपुर के 'राजाबाक्षा' नामक हनुमान मंदिर में पिकनिक पर ले गईं। वहाँ जाकर सब्ज़ी और पूरियाँ बनानी थीं। शिक्षिका ने हम सबको आधा पाव आटा, चार-पाँच आलू और दो प्याज़ और एक छोटी बोतल में पूरियों के लिए तेल भी लाने को कहा। हर लड़की यह सामान ले आई। मैं भी आटा, आलू, प्याज़ और तेल ले गई थी। सबका सामान

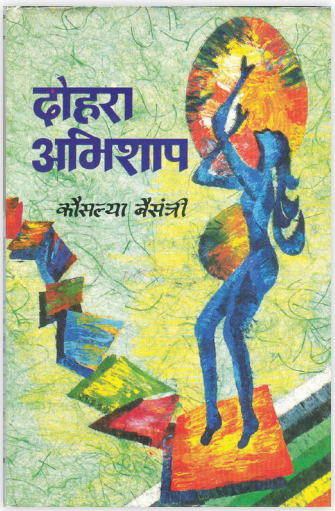
एकत्र किया गया। मेरी तेल की शीशी शिक्षिका ने अलग कर दी और पूछा कि किस चीज का तेल है। मैंने कहा, कि "जवस का (तीसी का)।" शिक्षिका ने तेल वापस कर दिया। बाद में मुझे पता चला कि ब्राह्मण लोग या अमीर लोग तीसी का तेल नहीं खाते। गरीब लोग यह तेल खाते हैं। तेल खाने का फरक मुझे उसी दिन मालूम हुआ। अब तक मैं यही सोचती थी कि सब लोग यही तेल खाते होंगे। मुझे सिर्फ़ इस तेल और बालों में लगाने के लिए नारियल के तेल की ही जानकारी थी। मेरी कक्षा में एक शरारती लड़की थी। वह तो जब भी मुझे देखती, जवस का तेल कहकर चिढ़ाती थी।



कौसल्या 'बैसंत्री' अपने प्रियजनों के बीच

स्कूल के रास्ते में सीताबर्डी की टेकड़ी (छोटी पहाड़ी) थी। वहाँ गणपति जी का मंदिर था। टेकड़ी में ऊपर अंग्रेज़ों की फौज़ की टुकड़ी रहती थी। गणपति के मंदिर में सिर्फ़ ब्राह्मण या ऊँची जाति वाले ही जाते थे। अस्पृश्यों का मंदिर में प्रवेश नहीं था। मैं और मेरी बहन आते-जाते लोगों को पूजा-पाठ करते देखती थीं। पंडितजी नारियल, गुड़ आदि का प्रसाद लोगों को देते थे। प्रसाद के लालच में मैं और मेरी बहन, जब लोग नहीं रहते तब जाकर गणपति जी की पाँच बार प्रदक्षिणा करती थीं और घंटी बजाती थीं। लोगों को देखकर हम भी वैसे ही करती थीं और प्रसाद लेकर जल्दी भाग जाती थीं। वहाँ के पुजारी को हमारे ऊपर शक नहीं हुआ। नहीं तो मार पड़ती। परीक्षा के समय कई लड़कियाँ मंदिर जातीं और वहाँ से विभूति लाकर परीक्षा की कॉपी के हर पन्ने पर राख डालती थीं। मैं भी देखा-देखी मंदिर से राख लाकर पन्नों पर डालती और भगवान से पास करने के लिए प्रार्थना करती थी। तब मैं भी कुछ धार्मिक प्रवृत्ति की थी परंतु बाद में एकदम नास्तिक हो गई। अब यह सब व्यर्थ लगता है।

जब 'बड़ी भिड़े कन्याशाला' में पाँचवीं कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फ़ीस ज़्यादा थी। एक रुपया बारह आने। परंतु अब सब पढ़ रहे थे। घर के बच्चों की फ़ीस देना बाबा-माँ के

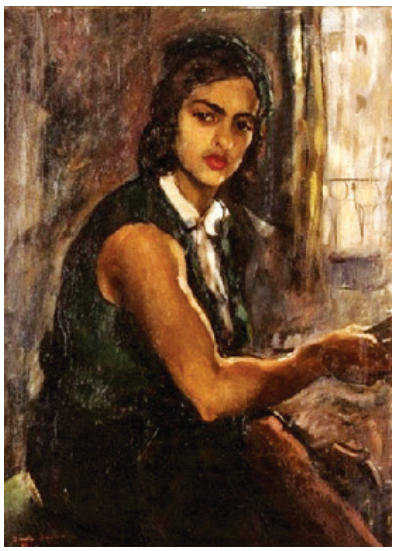


सामर्थ्य के बाहर की बात थी। बाबा ने हमारी हेड मिस्ट्रेस से बहुत विनती की कि वे फ़ीस नहीं दे सकते। बहुत मुश्किल से वह मान गईं और कहा कि पढ़ाई अच्छी न करने पर स्कूल से निकाल देंगी। बाबा ने आश्वासन दिया कि वे इसका खयाल रखेंगे। बाबा ने हेड मिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा का चेहरा कितना मायूस लग रहा था उस वक्त! मेरी आँखें भर आई थीं। अब भी इस बात की याद आते ही बहुत व्यथित हो जाती हूँ। अपमान महसूस करती हूँ। जाति-पाँति बनाने वाले का मुँह नोचने का मन करता है। अपमान का बदला लेने का मन करता है।

कुछ दिनों के बाद स्कूल वालों ने अस्पृश्य लड़कियों को मुफ़्त किताबें देना शुरू किया था। फिर भी कॉपियाँ, कंपास, कलर बॉक्स, ब्रुश वगैरह हमें अपने पैसों से खरीदना पड़ता था। चौथी पास करके मेरी छोटी बहन मधु भी 'बड़ी भिड़े कन्याशाला' में आने लगी। मुझे फीस नहीं देनी पड़ती थी, परंतु मधु की देनी पड़ती थी। माँ-बाबा को सबकी पढ़ाई का खर्चा उठाने में बहुत दिक्कत पड़ती थी, फिर भी उन्होंने हमें पढ़ाना जारी रखा। उन्होंने बाबा साहब 'आंबेडकर का कस्तूरचंद पार्क' में भाषण सुना था कि **अपनी प्रगति करना है तो शिक्षा प्राप्त करना बहुत जरूरी है। लड़का और लड़की दोनों को पढ़ाना चाहिए।** माँ के मन पर इसका असर पड़ा था और उन्होंने हम सब बच्चों को पढ़ाने का निश्चय किया था, चाहे कितनी ही मुसीबतों का सामना करना पड़े। बाबा माँ के किसी काम में दखल नहीं देते थे। कभी-कभी स्कूल जाने का मन नहीं करता था, तो हम बहाना लगाते कि चप्पल टूट गई या बारिश में छतरी टूटी है, तो वे तुरंत कील, तार लगाकर छतरी-चप्पल दुरुस्त कर देते थे। हमें घर में नहीं रहने देते थे, स्कूल ज़रूर भेजते थे। किसन भागूजी बनसोडे बीच-बीच में घर आते थे। माँ को हमें पढ़ाने के लिए उत्साहित करते थे। माँ का हौसला बढ़ जाता था। नयी कक्षा में जाने पर सब बहनों और भाई का किताब-कॉपियों का खर्चा बढ़ जाता था, गर्मी की छुट्टियों के बाद स्कूल खुलने पर सबको किताबें खरीदनी पड़ती थीं।

अमृता शेरगिल

दिलीप चिंचालकर



नए साल (1913) का पहला महीना खत्म होने को था। हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट बर्फ़ की मोटी रज़ाई ओढ़े पड़ी थी। डेन्यूब नदी के ऊपर से बहकर आती हवा इतनी सर्द थी कि खिड़कियों के भी दाँत बज रहे थे। इतनी ठंड में परीकथाओं-सा सुंदर यह देश सफ़ेद-सफ़ेद हो रहा था। मगर सरदार 'उमरावसिंह मजीठिया' के घर में खुशियों की गर्माहट थी। दोपहर की प्रार्थना के लिए गिरजे का घंटा बजा और खबर मिली कि घर में एक परी ने जन्म लिया है।

'बुडापेस्ट' यूरोप के आकर्षक शहरों में से एक है। अपने इतिहास, कला और संस्कृति के ऊँचे दर्ज़े के कारण उसकी गिनती विएना और पेरिस के साथ हुआ करती थी। ऐसे समय जन्मी बच्ची को उसके माँ-पिता ने देखा। उसके लंबे, रेशम जैसे बालों को देखा। उसकी बड़ी-बड़ी उत्सुकता भरी आँखों को देखा। रोना तो उसे आता ही नहीं था। घरवालों ने उसे नाम दिया अमृता।

अमृता अभी एक साल से थोड़ी ही बड़ी हुई थी कि उसे एक जीता-जागता खिलौना मिल गया—उसकी छोटी बहन इंदिरा। उन्हीं दिनों पहला विश्वयुद्ध शुरू हो गया। बच्चियों को लड़ाई की आँच न लगे इसलिए मारी और उमरावसिंह शहर से साठ मील दूर देहात में रहने गए। यहाँ डेन्यूब नदी में एक ऐसा ज़बरदस्त मोड़ था कि पूरे इलाके का नाम 'डेन्यूबबेंड' पड़ गया था। आसपास पहाड़ियाँ थीं। जंगल थे। वहाँ बसा था दूनाहरस्ती गाँव। सरदार साहब जब घूमने निकलते, तो उनके साथ अमृता, इंदिरा और एक बड़ा-सा सफ़ेद कुट्टया (हंगेरियाई भाषा में कुट्टया



अपनी बहन इंदिरा के साथ अमृता (1922)

का अर्थ होता है कुत्ता) होता।

अमृता को प्रकृति की सुंदरता से बड़ा लगाव था। पेड़-पौधों की खूबसूरती, फूलों के सुर्ख रंग और नदी-पहाड़ों के बीच की ढलानों को देखकर वह बार-बार ठिठक जाती। वह पाँच साल की ही थी कि वॉटर कलर से चित्र बनाने लगी। **माँ जो कहानियाँ सुनाती अमृता उन्हीं पर चित्र बना देती।** अमृता किसी स्कूल में नहीं गई। एक शिक्षक घर पर आकर उसे अंकगणित, इतिहास और भूगोल पढ़ाते थे। इतिहास तो उसे इतना अच्छा लगता कि समय मिलते ही वह क्रेयॉन या वॉटर कलर से इतिहास की घटनाओं के चित्र बनाने लगती। भाषाएँ भी वह चलते-बोलते सीख लेती थी। अमृता के मामा इर्विन बख्ताई भारत के जाने-माने जानकार थे। उमराव सिंह के कहने पर इर्विन मामा ने गाँधीजी के भाषणों का एक संग्रह तैयार किया था। अमृता का रुझान देखकर मामा ने ही शुरुआत में उसे चित्रकारी सिखाई थी।

अमृता शेरगिल अपने आप में गुमसुम रहने वाली लड़की थी। ऐसे बच्चे अक्सर चुपचाप अपने आस-पास की चीज़ों को ध्यान से देखते रहते हैं। इससे उनके अंदर छुपी प्रतिभा निखरती जाती है। अमृता पर उसकी माँ मारी एंतोएनेत शेरगिल की सुनाई परीकथाओं और लोकगीतों का खासा असर पड़ा था। हंगरी के गाँव, गाँववाले, महल, ज़मींदारों की कोठियाँ अमृता के मन में बस गई थीं। किसानों के लंबे लबादों पर चटख रंगों से की गई कढ़ाई अमृता को खूब सुहाती। ऐसे कपड़े पहने हुए अमृता और इंदिरा की तस्वीर भी है कहीं। इसमें दोनों बहनें एकदम जिप्सी बंजारिनें लगती हैं। अमृता सुंदर दिखने के लिए सजग रहती थी। शायद इसी कारण अपनी छोटी बहन से उसे थोड़ी ईर्ष्या भी रहती थी। क्रिसमस का एक किस्सा अमृता के सात साल के होने के पहले का है। सन् 1920 के बड़े दिन की बात है। माँ ने घर

में एक दावत दी थी। मेहमानों में मानसिक रोगों की एक मशहूर डॉक्टर डॉ. उझेल्यी भी थीं। पार्टी चलते-चलते ही डॉक्टर ने अमृता की एक बड़ी कठिन परीक्षा ले डाली। अमृता पसीने से नहा गई। बाद में डॉक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि इस लड़की की प्रतिभा असामान्य है। सावधानी बरतना ज़रूरी है क्योंकि उस पर ऐसे प्रभाव पड़ सकते हैं जो आगे चलकर डरावने हो सकते हैं। बस, अगले ही साल माता-पिता अमृता को लेकर भारत आ गए।



अमृता शेरगिल

अमृता शेरगिल के पिता सरदार उमरावसिंह बड़े सौम्य व्यक्ति थे। कभी-कभी किसी छोटे रेस्त्रां में बैठकर वे भारतीय तत्त्वज्ञान और हिंदू धर्म पर बातचीत करते थे। उनके एक और दोस्त प्रोफ़ेसर सांगेर केगर अक्सर उनके घर आकर 'अमीर खुसरो' की रुबाइयाँ गाते थे। गोरखपुर ज़िले में उनकी ज़मींदारी थी। अमृता की माँ का परिवार भी कोई कम संपन्न नहीं था, धन-दौलत और कला-संस्कार दोनों में। जब उन्हें लगा कि अमृता चित्रकला को शौकिया तौर पर नहीं, गंभीरता से लेती है, तो उसे पढ़ाने के लिए इटली और फ्रांस ले गईं।

यूरोप में अमृता ने प्रोफ़ेसर 'पियेरवेलां' और प्रोफेसर 'ल्यूसिए सिमों' से चित्रकला सीखी। चित्रकला की दुनिया में ये दोनों जानी-मानी हस्तियाँ थे। दोनों अमृता से बहुत प्रभावित हुए। सिमों ने तो यह तक कह डाला कि **एक दिन मुझे इस बात पर गर्व होगा कि तुम मेरी छात्रा रही हो।** अमृता के चित्र भी उसकी प्रशंसा पर खरे उतरने वाले रहे। उनका प्रदर्शन पेरिस की प्रसिद्ध 'आर्ट गैलरी' में होता। यूरोप में रहते हुए अमृता ने वहाँ के चित्रकारों के काम बड़ी बारीकी से देखे और समझे। उसे लगा कि वहाँ रहकर वह कुछ अनोखा नहीं कर पाएगी। अमृता ने कहा, कि

"मैं हिंदुस्तान का खून हूँ और हिंदुस्तान की आत्मा कैनवास पर उतारकर ही संतुष्ट हो सकूँगी। यूरोप तो पिकासो, मतीस और ब्राक का है, मेरा तो केवल भारत है" और 1934 में वह सचमुच भारत आ गईं।

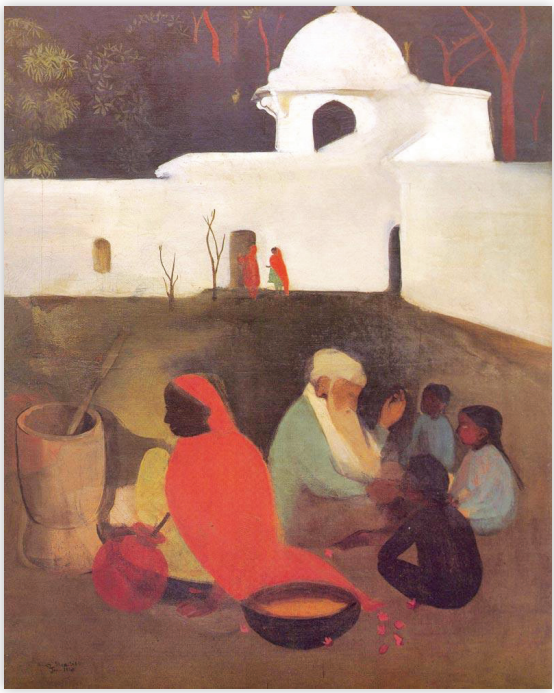


दक्षिण भारतीय गाँव के लोग बाज़ार जाते हुए (1937) — अमृता शेरगिल

उमरावसिंह नहीं चाहते थे कि उनकी मनमौजी बिटिया भारत आए क्योंकि हंगरी के रहन-सहन और भारत के तौर-तरीकों में काफ़ी फ़र्क था। अमृता सिर्फ़ चित्रकार नहीं बनना चाहती थी। चित्रकारी के रास्ते वह कुछ अनोखा करना चाहती थी और उसकी संभावना उसे भारत में ही दिखाई दी। यहाँ के दीन-हीन, देसी लोगों को अमृता से पहले किसी ने कैनवास पर जगह नहीं दी थी। अमृता के चित्रों ने भारत में खूब खलबली मचाई। अच्छे तो वे थे ही, उनमें नयापन भी था। इन्हीं में अमृता को अपनी शैली मिल गई।

अमृता खुर्राट भी बहुत थी। उसने अपनी चित्रकारी का एक बहुत ऊँचा दर्ज़ा तय कर रखा था। उसने सालाना प्रदर्शनी के लिए शिमला की 'आर्ट सोसायटी' को अपने चित्र भेजे। उन्होंने चित्रों में से पाँच रखकर पाँच लौटा दिए। अमृता ने इन लौटे चित्रों को पेरिस भेज दिया। यहाँ उनमें से एक चित्र स्वीकृत हो गया। इधर शिमला वालों ने अमृता के एक चित्र पर उसे **महाराज फरीदकोट पुरस्कार** दिया तो अमृता ने उसे लौटा दिया। साथ में यह भी लिखा कि यह पुरस्कार किसी ऐसे ज़रूरतमंद चित्रकार को देना जो आपके घिसे-पिटे तरीके से चित्र बनाता हो।

ऐसी ही बात उसने अपने घरवालों के साथ भी की। एक बार वह अपने चाचा का चित्र बना रही थी, तो घर के लोगों ने केवल इतना चाहा कि उसे वह सहज रंग और रेखाओं में बना दे, जिससे चाचा का चेहरा पहचाना जा सके। यानी अपने मनमाने तरीके से उसे आड़ा-तिरछा कर उसका मॉडर्न आर्ट न बना दे। अमृता ने परिवार वालों की पसंद का चित्र बना तो दिया पर अपने पिता से यह भी कह दिया कि देखो, ज़रूरत पड़ी तो वो घटिया चित्र भी बना सकती है।



प्राचीन कथाकार (1940) – अमृता शेरगिल

अमृता खुद काफ़ी रईसी में पली थी मगर उसे अमीर लोगों के तौर-तरीके यानी बेकार में नाक-भौंह सिकोड़ना पसंद नहीं था। एक जगह अमीर लोगों की पार्टी में खाने की मेज़ पर तश्तरी भर मिर्चें सजाकर रखी थीं। मिर्चें सबको ललचा रही थीं लेकिन कोई उन्हें खा नहीं रहा था। इसलिए कि मिर्च तीखी लगने पर आँख-नाक बहने लगेगी और फ़ज़ीहत हो जाएगी। अमृता से रहा न गया। उसने एक बड़ी-सी मिर्च को उठाकर चबा डाला और लोगों से भी खाने का आग्रह करने लगी। मिर्च तो मिर्च थी। अमृता सहित हर खाने वाला सी-सी करने लगा और सभी हँस-हँस कर लोटपोट हो गए। अमृता की इस बेतकल्लुफ़ी से पार्टी में जान आ गई।

सन् 1938 में अमृता फिर हंगरी चली गई और अपने ममेरे भाई डॉ. विक्टर एगॉन से ब्याह कर साल भर में भारत लौट आईं। पहले कुछ दिन दोनों शिमला में रहे फ़िर अपने पिता की रियासत सराया,

गोरखपुर में रहे। अमृता को लगा कि शायद लाहौर में विक्टर की डॉक्टरी अच्छी चलेगी इसलिए वे दोनों वहाँ रहने चले गए। नए घर में पहुँचते ही अमृता ने अपने चित्रों की एक प्रदर्शनी तय कर ली। उसका इरादा था कि दर्शकों से उनकी राय जानने के लिए वह भेष बदलकर, चेहरे पर नकली दाढ़ी-मूँछें लगाकर और सिर पर साफ़ा पहनकर एक सरदार की तरह उनसे बातें करेगी। परंतु ऐसा करने से पहले ही वह बीमार हो गई और तुरत-फुरत चल बसी।



लड़कियाँ (1932) — अमृता शेरगिल

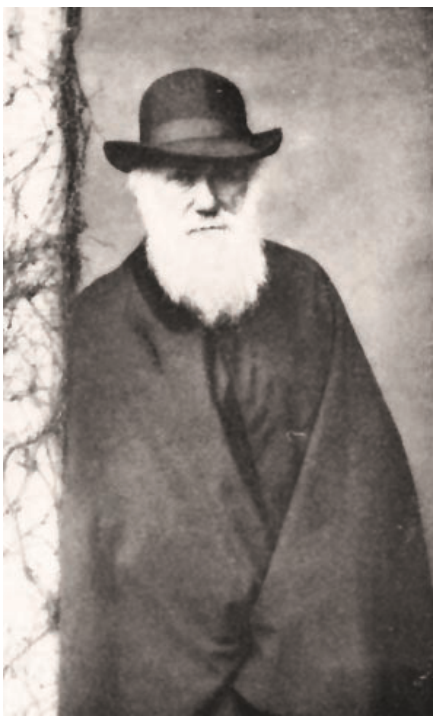
उम्दा चित्रकार और खुशमिज़ाज अमृता ने बहुत छोटी उम्र पाई—दो विश्वयुद्धों, 30 जनवरी 1913 और 5 दिसंबर 1941 के बीच उसकी दुनिया खत्म हो गई। इतने कम समय का हिसाब लगाएँ, तो बचपन के आठ साल छोड़कर बाकी सारा जीवन उसने घुमक्कड़ी में ही बिता दिया। फिर भी भारत के चित्रकारों में उसका नाम आज भी बहुत ऊँचा है।



अज्ञात शीर्षक-(विकि-कला पर) — अमृता शेरगिल

झूठे किस्से गढ़ने में मुझे महारत हासिल थी...

चार्ल्स डार्विन



मेरा जन्म 12 फ़रवरी, 1809 को श्रुस्बरी में हुआ था। मेरी पहली-पहली यादें तब की हैं, जब हम ऐबरजील के पास समुद्र में नहाने गए थे। उस समय मैं चार साल से कुछ ही महीने ज़्यादा का था। मुझे वहाँ के कुछ किस्से याद हैं। कुछ जगहें याद हैं।

जुलाई 1817 में मेरी माँ नहीं रहीं। उस समय मैं आठ साल से थोड़ा बड़ा था। मुझे उनके बारे में थोड़ा-बहुत ही याद है... उनकी मृत्युशय्या, उनका काले रंग का मखमली गाउन... और बहुत ही करीने से बनाया गया उनका मेज़। उसी साल वसंत में मुझे श्रुस्बरी में एक स्कूल भेज दिया गया। वहाँ मैं एक साल रहा। मुझसे कहा गया कि मैं सीखने में अपनी छोटी बहन कैथरीन की तुलना में बहुत सुस्त था। मेरा मानना है कि मैं कई तरह से एक शरारती बच्चा था।

इस स्कूल में जाने तक प्राकृतिक इतिहास और खासकर, चीज़ों को इकट्ठा करने में मेरी दिलचस्पी खूब बढ़ चुकी थी। मैं पौधों के नाम पता करने की कोशिश करता रहता। मैंने शंख, सील, सिक्के और खनिज न जाने क्या-क्या जुटाने शुरू कर दिए थे। संग्रह करने का शौक किसी को भी व्यवस्थित प्रकृति वैज्ञानिक या उस्ताद बनाने



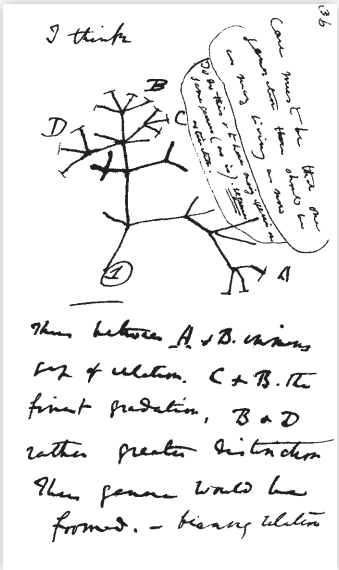
अपनी बहन के साथ किशोर 'डार्विन'

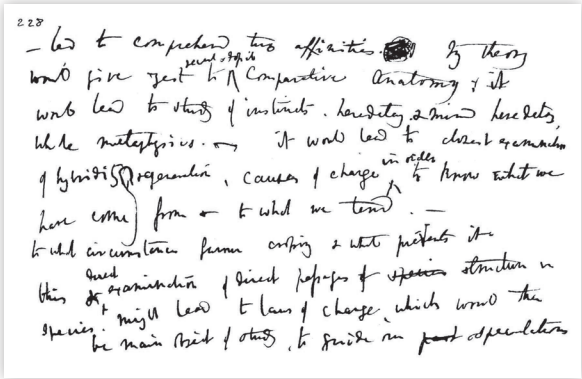
की ओर ले जाता है। शुरू से ही यह जज़्बा मुझमें कूट-कूटकर भरा था। मेरे भाई-बहनों की इसमें ज़रा भी दिलचस्पी न थी।

इसी साल एक छोटी-सी घटना मेरे दिमाग में गहराई से बैठ गई। मैंने अपने जैसे ही एक छोटे लड़के (मुझे लगता है कि वह लाइटन था जो बाद में प्रसिद्ध शैवाल वैज्ञानिक और वनस्पति शास्त्री बना) से कहा कि मैं रंगीन पानी देकर विभिन्न तरह के प्राइमरोज़ (एक प्रकार का पौधा जिसमें पीले रंग के फूल आते हैं) उगा सकता हूँ। यह कोरी गप थी और मैंने ऐसा करने की कभी कोशिश भी नहीं की थी। **बचपन में यूँ ही झूठे किस्से गढ़ने में मुझे महारत हासिल थी,** सिर्फ़ मज़े लेने के लिए। जैसे, एक बार मैंने एक पेड़ से बहुत सारे फल इकट्ठे किए और उन्हें झाड़ियों में छुपा दिया। फिर यह खबर फैलाने के लिए तेज़ी से दौड़ा कि चुराए हुए फल मैंने खोज निकाले हैं।

जब मैं पहली बार स्कूल गया, तो उस समय बहुत सीधा-सादा बच्चा रहा होऊँगा। एक दिन गार्नेट नाम का एक लड़का मुझे केक की दुकान पर ले गया। उसने थोड़ी-सी केक खरीदी और बिना पैसे दिए बाहर आ गया। दुकानदार उसकी जान-पहचान का था। दुकान से बाहर आकर मैंने उससे पैसे नहीं देने की वजह पूछी। वह बोला, "क्या तुम्हें नहीं पता कि मेरे अंकल इस शर्त पर बहुत सारा पैसा छोड़ गए हैं कि जो कोई भी इस पुरानी टोपी को पहनकर उसे एक खास तरीके से घुमाएगा, उसे दुकानदार बगैर पैसे लिए कोई भी चीज़ दे देगा?"

उसने मुझे दिखाया भी कि उस टोपी को कैसे घुमाना है। फिर वह एक और दुकान में गया और कोई चीज़ माँगी। उसने फिर से





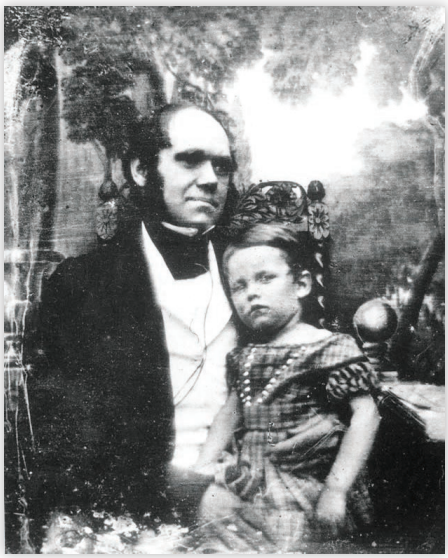
डार्विन के नोट्स

टोपी को एक खास तरीके से घुमाया और बगैर पैसे चुकाए दुकान से बाहर आ गया। यह दुकानदार भी उसकी जान-पहचान का ही था। फिर उसने मुझसे कहा, "यदि तुम उस केक की दुकान पर खुद जाना चाहो, तो मैं तुम्हें अपनी यह टोपी दे सकता हूँ। तुम इसे सही तरीके से घुमाना, और तुम जो चाहोगे मिल जाएगा।" मैंने उसकी बात खुशी-खुशी मान ली और उस दुकान में जाकर केक माँगा। फिर टोपी को उसके बताए तरीके से घुमाया और बगैर पैसे दिए दुकान से बाहर निकलने लगा। लेकिन जब देखा कि दुकानदार मेरे पीछे आ रहा है, तो मैंने वह केक वहीं फेंका और जान बचाने के लिए दौड़ लगा दी। जब मैं गार्नेट के पास पहुँचा, तो यह देखकर हैरान रह गया कि वह ठहाके लगा रहा था।

मैं कह सकता हूँ कि मैं एक दयालु लड़का था, लेकिन इसका सारा श्रेय मेरी बहनों को जाता है। वे खुद भी लोगों से ऐसा व्यवहार करती थीं और मुझे भी ऐसा ही करने को कहतीं। मुझे नहीं लगता कि दयालुता वास्तव में प्राकृतिक या सहज गुण है।

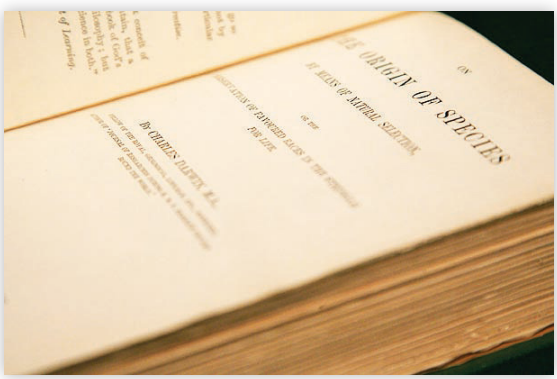
मुझे अंडे इकट्ठे करने का बड़ा शौक था, लेकिन मैंने एक चिड़िया के घोंसले से एक से ज़्यादा अंडे कभी नहीं लिए। हाँ, बस एक बार मैंने सारे अंडे निकाल लिए थे। इसलिए नहीं कि मुझे उनकी ज़रूरत थी, बल्कि यह एक किस्म की बहादुरी दिखाने का तरीका था।

मुझे काँटे से मछली पकड़ने का बहुत शौक था और मैं घंटों नदी या तालाब किनारे बैठकर ऊपर-नीचे होता पानी देखा करता। मेअर (जहाँ मेरे अंकल का घर था) में जब मुझे बताया गया कि मैं नमक और पानी से कीड़ों को मार सकता हूँ, उसके बाद से मैंने कभी भी ज़िंदा कीड़े को काँटे पर नहीं लगाया। हाँ, कभी-कभी इसका खामियाज़ा भुगतना पड़ता कि मछली फँसती ही नहीं थी।



डार्विन और उनकी बेटी

एक बार मैंने एक कुत्ते के पिल्ले को बुरी तरह पीट दिया। केवल इसलिए कि मैं अपनी ताकत के एहसास पर खुश हो सकूँ। लेकिन वह पिटाई इतनी ज़्यादा हो गई कि उसने फिर गुर्राना ही छोड़ दिया। मुझे इसका पता ऐसे चला कि वह जगह मेरे घर के बहुत पास थी। इस घटना ने मुझ पर बहुत असर डाला। मुझे बार-बार वह जगह याद आती जहाँ मैंने उस कुत्ते की पिटाई की थी। शायद यहीं से कुत्तों को लेकर मेरा प्यार उमड़ा और फिर मुझे इसकी धुन सवार हो गई। लगता है कुत्ते भी इस बारे में जानते थे क्योंकि मैं उनके मालिकों से उनके प्यार को छीनने में उस्ताद हो गया था।



प्रजातियों की उत्पत्ति पुस्तक

परिचय

प्रेमचंद (1880-1936)

कथा सम्राट के रूप में प्रसिद्ध प्रेमचंद का वास्तविक नाम धनपतराय था। उनका जन्म वाराणसी के निकट लमही नामक गाँव में हुआ था। उनका पूरा जीवन अभाव और कष्टों में बीता। प्रेमचंद की लगभग तीन सौ कहानियाँ 'मानसरोवर' के आठ खंडों में प्रकाशित हैं। उनके उपन्यास हैं— 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान'। उनका अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मर्यादा', 'माधुरी', 'जागरण' और 'हंस' नामक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया।

दादा साहब फ़ाल्के (1870-1944)

भारतीय सिनेमा के जनक **दादा साहब फ़ाल्के** का पूरा नाम **धुंडीराज गोविंद फ़ाल्के** था। आपके द्वारा निर्मित प्रथम भारतीय मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) थी। अंतिम फ़िल्म 'गंगावतरण' 1937 में निर्मित हुई। आपने 100 के लगभग फ़िल्में बनाईं।

भारत में फ़िल्मों पर मिलने वाला सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार आपके नाम पर 'दादा साहब फ़ाल्के पुरस्कार' कहलाता है।

चंद्रशेखर आज़ाद (1906-1931)

भारत की आज़ादी के लिए संघर्ष करने वाले क्रांतिकारी वीरों में से एक चंद्रशेखर आज़ाद का जन्म एक आदिवासी गाँव भावरा में 23 जुलाई 1906 को हुआ था। गांधीजी द्वारा 1921 में जब असहयोग आंदोलन की शुरुआत की गई उस समय मात्र 14 वर्ष की उम्र में चंद्रशेखर आज़ाद ने इस आंदोलन में भाग लिया और गिरफ़्तार कर लिए गए। 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' के पुनर्गठन में विशेष योगदान।

1931 में इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में पुलिस द्वारा घेर लिए जाने पर अंतिम दम तक उनके साथ संघर्ष करते हुए अपनी ही पिस्तौल की अंतिम बची गोली से अपने को देश के लिए कुर्बान कर दिया।

रामानुजन (1887-1920)

पूरा नाम श्रीनिवास आयंगर रामानुजन। तमिलनाडु के निवासी। *गणितज्ञ* के रूप में विश्व प्रसिद्ध।

ध्यानचंद (1905-1980)

'हॉकी के जादूगर' कहे जाने वाले ध्यानचंद का जन्म इलाहाबाद में हुआ था। उन्होंने सन् 1928, 1932 और 1936 के ओलंपिक में भारतीय हॉकी टीम का प्रतिनिधित्व किया और अपने तूफ़ानी खेल से सारी दुनिया पर भारत की धाक जमा दी। देश की आज़ादी के बाद सन् 1956 में ध्यानचंद को 'पदमभूषण' से अलंकृत किया गया।

चार्ली चैपलिन (1889-1977)

'द किड', 'सिटी लाइट्स', 'द ग्रेट डिक्टेटर', 'द गोल्ड रश' जैसी फ़िल्मों के विश्व प्रसिद्ध अभिनेता। हास्य-व्यंग्य के ज़रिए गहरे सामाजिक सरोकारों को दिखलाने के लिए जाने जाते हैं।

कौसल्या बैसंत्री (1926-2011)

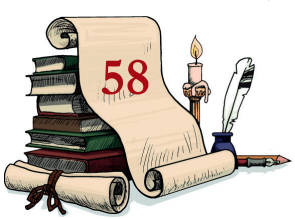
दलित जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए चर्चित 'दोहरा अभिशाप' नामक आत्मकथात्मक उपन्यास की लेखिका। सन् 1942 में डॉ. भीमराव अंबेडकर की अध्यक्षता में हुए प्रथम दलित महिला सम्मेलन, नागपुर में सक्रिय रूप से हिस्सेदारी। अनेक लेख और निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

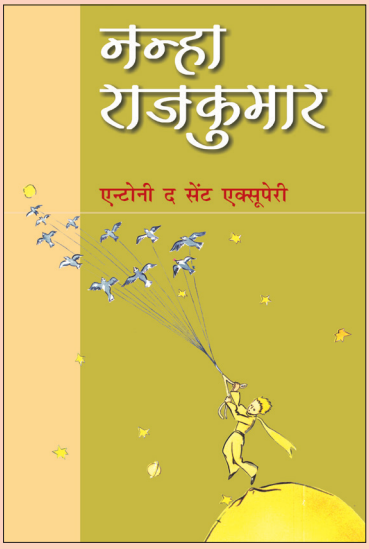
अमृता शेरगिल (1913-1941)

बीसवीं सदी की प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार अमृता शेरगिल पूर्व और पश्चिम की कलाओं का संगम थीं। उन्हें भारत में आधुनिक कला की जन्मदात्री के रूप में भी जाना जाता है। भारतीय ग्रामीण जीवन पर बनाए अपने चित्रों के लिए चर्चित रही इस प्रतिभावान कलाकार का निधन 29 वर्ष की छोटी-सी आयु में ही हो गया।

चार्ल्स डार्विन (1809-1882)

प्राकृतिक इतिहास के महान ज्ञाता *चार्ल्स डार्विन* **विकासवाद-सिद्धांत** के जनक कहे जाते हैं। 'द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़' (प्रजातियों की उत्पत्ति) इनकी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक है, जिसके प्रकाशन के बाद ही जीव-विज्ञान, विज्ञान की एक स्वायत्त शाखा का रूप ले सका।





नन्हा राजकुमार

(द लिटिल प्रिंस)

एन्टोनी द सेंट एक्सूपेरी

अनुवाद – देवी प्रसाद

Rs 65.00 / pp 80 / 2007

तारा की अलवर यात्रा

प्रज्ञा

Rs 65.00 / pp 60 / 2008



अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।



21032

विद्यया ऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 978-93-5007-346-9

